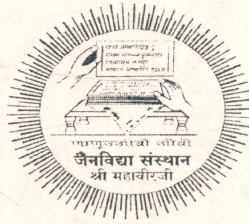


अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2005-2006

17-18



अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2005-2006

सम्पादक मण्डल

श्री नवीनकुमार बज

श्री महेन्द्रकुमार पाटनी

श्री अशोक जैन

श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

डॉ. जिनेश्वरदास जैन

डॉ. प्रेमचन्द राँवका

प्रबन्ध सम्पादक

श्री नरेन्द्र पाटनी

मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सम्पादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

सहायक सम्पादक

सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

पृष्ठ संयोजन

आयुष ग्राफिक्स

जयपुर

मोबाइल : 9414076708

विषय-सूची

क्र. सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	महाकवि स्वयंभू-कृत पउमचरिउ की सीता और स्त्री-विमर्श	डॉ. नीरजा टण्डन	1
2.	गिरिविंज्द्यु दुग्गमसिहरु	महाकवि वीर	14
3.	वीर कवि विरचित जंबूसामिचरिउ में विद्युच्चर मुनि द्वारा बारह भावनाओं का अनुचिन्तन	डॉ. सूरजमुखी जैन	15
4.	कहिं मि गिरिकडणि	महाकवि वीर	26
5.	कविकोकिल विद्यापति और उनकी कीर्तिलता	डॉ. सकलदेव शर्मा	27
6.	केरिसी विंज्झाडई	महाकवि वीर	36
7.	अपभ्रंश साहित्य में सूक्तियाँ	श्रीमती स्नेहलता जैन	37
8.	जेत्थ पट्टणसरिस वरगाम	महाकवि वीर	42
9.	पादलिप्तसूरि-रचित 'तरंगवईकहा'	श्री वेदप्रकाश गर्ग	43
10.	महाकवि स्वयंभू की लोक-दृष्टि	डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी	47
11.	पार्श्वनाथ आदित्यवार कथा	संपा.-अनु. - श्रीमती शकुन्तला जैन	56
12.	योगसार दोधक	जोगचन्द मुणि संपा.- अनु. - डॉ. रामसिंह रावत	70

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सेण्टीमीटर का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर - 302 004

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य के रसिक अध्ययनार्थियों के सम्मुख 'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का यह अंक प्रस्तुत करते हुए हर्ष है।

अपभ्रंश अपने काल की सामान्य लोकचेतना के प्रादुर्भाव और विकास की कहानी है। यह तत्कालीन जन-जीवन के लोक-व्यवहार की महत्त्वपूर्ण भाषा है। अपभ्रंश में लोक-जीवन का मार्मिक, रसयुक्त, उत्प्रेरक व विश्वसनीय चित्र है। इसमें लोक-गाथाएँ, शृंगार, वीर, नीति, वैराग्य आदि विविध प्रवृत्तियों की धाराएँ, समाज की धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक प्रतिक्रियाएँ अपने अधिक स्वाभाविक रूप में सुरक्षित हैं। इसमें तत्कालीन समाज के जीवन्त चित्रों की विविध झाँकियाँ हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी द्वारा अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए जैनविद्या संस्थान के अन्तर्गत ईसवी सन् 1988 से 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' संचालित है। अकादमी द्वारा अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के लिए 'अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम तथा अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम' पत्राचार के माध्यम से संचालित हैं। इसके अध्ययन-अध्यापन के लिए अकादमी द्वारा पर्याप्त पाठ्य-पुस्तकें एवं सामग्री भी प्रकाशित की गई हैं। अपभ्रंश भाषा में मौलिक साहित्यिक अवदान के लिए 'स्वयंभू पुरस्कार' भी प्रदान किया जाता है।

हम उन विद्वान् लेखकों के आभारी हैं जिनकी रचनाओं ने इस अंक को यह रूप प्रदान किया।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। अंक के पृष्ठ-संयोजन के लिए आयुष ग्राफिक्स, जयपुर तथा मुद्रण के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह हैं।

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

नरेन्द्र पाटनी
मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी एवं अँग्रेजी में रचित रचनाओं पर 'स्वयंभू पुरस्कार' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 21,001/- (इक्कीस हजार एक रुपये) एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवदेन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - 4, से पत्र-व्यवहार करें।

सम्पादकीय

“छठी शती ईसवी से चौदहवीं शती ईसवी तक अपभ्रंश भाषा में अनेक गौरवपूर्ण ग्रन्थ रचे गए जिसके कारण भारतीय संस्कृति के गौरव की अक्षुण्णनिधि अपभ्रंश साहित्य में सुरक्षित है।”

“योगीन्दुदेव और महाकवि स्वयंभू के हाथों अपभ्रंश साहित्य का बीजारोपण हुआ। पुष्पदन्त, धनपाल, रामसिंह, देवसेन, हेमचन्द्र, सरह, कण्ह और वीर जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अन्तिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रङ्ग जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का सम्बल प्राप्त हुआ। इन शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी कवियों का आश्रय पाकर यह साहित्य अल्पकाल में ही पूर्ण यौवन के उत्कर्ष पर पहुँच गया। अभिव्यक्ति की नई शैलियों से समन्वितकर इन्होंने इसे इस योग्य बना दिया कि वह पूरे युग की मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो सका।”

“कवि स्वयंभू की दृष्टि अपने काल और लोक के प्रति यथार्थपरक होते हुए भी कल्पना का आश्रय लेती रही है, उसने परम्परा को भी आत्मसात किया है। अभ्यास के होते हुए उनके पास नैसर्गिक प्रतिभा की कमी नहीं रही। शायद यही कारण है कि महापण्डित राहुल की दृष्टि में भारत के एक दर्जन कवियों में से एक वे भी थे।”

“राम की तुलना में स्वयंभू ने सीता के चरित्र को कहीं ऊँचा उठाया है। यह सीता ‘देवता-भाव’ से सम्पन्न नहीं है, वह एक सामान्य किन्तु दृढ़प्रतिज्ञ, स्वाभिमानी, कष्टसहिष्णु, कर्मठ, निर्भीक एवं साहसी, लोककलाओं में प्रवीण, कोमलहृदया, सच्चरित्र और स्वतन्त्र व्यक्तित्व से सम्पन्न तथा आत्मविकास में संलग्न रहनेवाली है और इस रूप में वह आज की नारी के समकक्ष खड़ी है। आत्मविश्वास से भरी हुई, अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों के बीच, अन्याय-अत्याचार का विरोध करती हुई।”

“अपभ्रंश साहित्य का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय काव्यरूप, चरिउकाव्य है। अपभ्रंश में अनेक चरिउकाव्य मिलते हैं, जैसे - पउमचरिउ, रिट्टणेमिचरिउ, णाय-कुमारचरिउ, जसहरचरिउ, जंबूसामिचरिउ, सुदंसणचरिउ, करकंडचरिउ, पउमसिरिचरिउ, पासणाहचरिउ, सुकुमालचरिउ आदि-आदि। ये सभी चरिउकाव्य अपने काल के ज्ञानकोश तथा भारतीय इतिहास और संस्कृति के आकर ग्रन्थ हैं। वैसे देखा जाए तो इनमें भारत के सन्दर्भ में समूची मानवीय चेतना और संस्कृति का जीवन्त चित्र है। इस चित्र को गागर में सागर भरने रूप प्रतिबिम्बित करने हेतु अनेक सूक्तियों का प्रयोग भी अनायास ही हो गया है। जैसे -

- धम्म अहिंसा परमुजए।
- इस जगत में अहिंसा ही परमधर्म है।
- धम्म अहिंसउ सदहहि।
- अहिंसा धर्म की श्रद्धा करो।
- जहि परमधम्म तहि जीवदय।
- जहाँ परम धर्म होगा जीवदया भी वहीं रहेगी।
- विणु जीवदयाइ ण अत्थि धम्म।
- जीवदया के बिना धर्म नहीं होता।
- विणएँ लच्छि-कित्ति पावइ।
- विनय से लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है।
- विणु विणएण कवणु पावइ सिउ?
- विनय (गुण) के बिना कौन शिव (कल्याण) पा सकता है?
- अविणीयं किं संबोहिएण।
- जो विनयहीन है उसे सम्बोधित करने से क्या फल?
- विहवहो फलु दुत्थिय आसासणु।
- वैभव का फल दीन-दुखियों को आश्वासन देना है।”

“कवि-कोकिल विद्यापति और उनकी कीर्तिलता दोनों परवर्ती अपभ्रंश की अत्यन्त मूल्यवान धरोहर हैं, अतः उन्हें यदि हम परवर्ती अपभ्रंश का ‘महाकवि स्वयंभू’ कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भाषा-साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान की दृष्टि से आज भी गद्य-पद्य से संवलित इस ऐतिहासिक कथा-काव्यकृति का अप्रतिम महत्त्व है। विस्मयकारिणी प्रतिभा के बल पर कवि ने इसमें मध्यकालीन भारतीय समाज और उसकी तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों को अपनी सीमा और समग्रता में रूपायित कर दिया है।”

“कवि-कोकिल विद्यापति की यह कविता कल भी मिथिलांचल के घर-घर में क्रीड़ा करती थी, आज भी करती है और आगे भी करती रहेगी। जार्ज अब्राहम, ग्रियर्सन ने उनके गीतों को देखकर अपनी पुस्तक - ‘एन इण्ट्रोडक्शन टू द मैथिली लैंग्वेज’ (1881-82) में ठीक ही लिखा है - “कृष्ण में विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो सकता है, लेकिन विद्यापति के गीतों के प्रति लोगों की आस्था और श्रद्धा कभी कम नहीं होगी।”

“ ‘तरंगवईकहा’ प्राकृत कथा-साहित्य की सबसे प्राचीन कथा है। उद्योतनसूरि ने ‘कुवलयमाला’ में इस कथा की प्रशंसा की है। इसी प्रकार धनपाल कवि ने ‘तिलकमंजरी’ में, लक्ष्मणगणि ने ‘सुपासनाहचरित’ में तथा प्रभाचन्द्र सूरि ने ‘प्रभावक चरित’ में तरंगवती का सुन्दर शब्दों में स्मरण किया है।”

“ ‘तरंगवती’ अपने मूलरूप में अब उपलब्ध नहीं है। 1643 गाथाओं में उसका संक्षिप्त रूप ‘तरंगलीला’ नाम से उपलब्ध है। ‘तरंगवती कथा’ के रचयिता पादलिप्तसूरि थे। प्रोफेसर लॉयमन ने ‘तरंगवई’ का काल ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।”

“तरंगवतीकथा में करुण-शृंगार आदि अनेक रसों, प्रेम की विविध परिस्थितियों, चरित्र की ऊँची-नीची अवस्थाओं, बाह्य तथा अन्तर्संघर्ष की स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य-चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण एवं साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।”

अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा अपभ्रंश भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए इसके अध्ययन-अध्यापन, ‘अपभ्रंश-भारती’ पत्रिका का प्रकाशन और ‘स्वयंभू पुरस्कार’ प्रदान करने के साथ-साथ अपभ्रंश भाषा की अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का सम्पादन-अनुवाद करवाकर उनका प्रकाशन भी किया जाता है। पिछले अंक में एक लघु काव्यकृति एवं एक काव्यांश का अर्थसहित प्रकाशन किया गया था। उसी क्रम में इस अंक में श्री जोगचन्द मुणि द्वारा रचित, डॉ. रामसिंह रावत, दिल्ली द्वारा सम्पादित एवं अनूदित ‘योगसार दोधक’ तथा श्रीमती शकुन्तला जैन द्वारा सम्पादित एवं अनूदित ‘श्री पार्श्वनाथ आदित्यवार कथा’ का प्रकाशन किया गया है। इसके लिए हम इनके आभारी हैं।

जिन विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा इस अंक का कलेवर बनाने में सहयोग प्रदान किया, हम उनके आभारी हैं।

पत्रिका के प्रकाशन के लिए संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। पृष्ठ-संयोजन के लिए आयुष ग्राफिक्स, जयपुर तथा मुद्रण के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह हैं।

- डॉ. कमलचन्द सोगाणी

महाकवि स्वयंभू-कृत पउमचरिउ
की
सीता और स्त्री-विमर्श

- डॉ. नीरजा टण्डन



वहन करो,
ओ मन! वहन करो,
सहन करो पीड़ा!!

यह अंकुर है,
उस विशाल वेदना की,
वेणु वनदावा-सी थी
तुममें जो जन्मजात-
आत्मज है
स्नेह करो, अंचल से ढंककर रक्षण दो
वरण करो,
ओ मन! वहन करो पीड़ा।¹

इन पंक्तियों में कवि नरेश मेहता जिस पीड़ा को आत्मसात् करने की साधना की बात करते हैं भारतीय नारी युगों-युगों से उस पीड़ा को सहती आई है। यह बात अलग है कि युग-युगान्तर से पीड़ित होने पर भी वह सदैव शक्तिसम्पन्न होकर अपनी अस्मिता को भी सिद्ध करती रही है। आधी दुनिया की यह प्रतिनिधि सामाजिक बन्धनों की मार झेलती हुई एक ओर हाशिए में भी अपना स्थान सुरक्षित नहीं पाती और दूसरी ओर 'देवी' पद पर भी प्रतिष्ठित की जाती रही है। यानी एक सामान्य मनुष्य के रूप में उसकी पहचान एक छलावा या सपना ही है। महादेवी वर्मा का यह कथन इस परिप्रेक्ष्य में बहुत सटीक है- इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अगर भारतीय नारी की स्थिति पर विचार करें तो हमें खेद और आश्चर्य दोनों होते हैं। एक ओर तो उसे सीधे स्वर्ग में स्थापित किया गया जहाँ से वह धरती पर पैर उतार ही नहीं सकती थी, दूसरी ओर इतने गहरे पाताल में डम्प कर दिया है जहाँ से वह इंचभर भी ऊपर नहीं उठ सकती। उसके दोनों रूप एक-साथ हमारे सामने हैं और समाज में पलते हैं। समाज ने उसे वह अधिकार भी नहीं दिया जो द्वितीय श्रेणी के नागरिक को मिलता है। व्यक्ति के रूप में उस पर विचार ही नहीं किया। सम्पत्ति के रूप में विचार किया गया है। पुरुष का मान, सम्मान, मर्यादा यहाँ तक कि वैर, प्रतिशोध सब-कुछ स्त्री पर निर्भर है अर्थात् जैसे वह सम्पत्ति से व्यवहार करता है वैसे ही स्त्री से करेगा। स्वतन्त्र रूप से वह (स्त्री) व्यक्ति नहीं है।²

स्त्री-विमर्श के केन्द्र में है नारी-अस्मिता की तलाश और नारी स्वयं भी अपनी अस्मिता और आत्मसम्मान के प्रति सचेत है। वह समाज को दिशा-निर्देश देने में, निराशा में आशा का संचार करने में, आवश्यकता पड़ने पर युद्धक्षेत्र में अपनी मातृभूमि, सतीत्व और धर्म की रक्षा करने में तत्पर होने में, मानवता का सन्देश देने में एक प्रेरक शक्ति का काम करती रही है, इतिहास इस बात का गवाह है, पर दूसरी ओर वह यह भी जानती है कि 'विस्मृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना'³ और इतिहास इस तथ्य के भी साक्ष्य देता है।

भौतिकवादी युग की चकाचौंध से प्रभावित हमारा समाज आज आधुनिक और प्रगति-शील होने का दावा करता है और इसी के तहत स्त्री-पुरुष की समानता की भी बात करता है। स्वयं स्त्रियाँ भी यह उद्घोषणा करती हैं-

हम औरतें

महज सिन्दूर, मंगलसूत्र,

बेलन, थाली, चिमटा और

नाक की नथ ही नहीं हैं;

हम गुस्से से खौलती,
 विचारों से लैस एक
 जीवित इन्सान हैं;
 आधी जमीन, आधे आसमान का बोझ
 हमारे कन्धों पर है,
 क्रान्ति के मस्तक पर
 लाल सलाम हैं
 हम औरतें।⁴

लेकिन सच तो यह है कि स्त्री के विषय में सोचने और समझने में कोई बुनियादी अन्तर प्राचीन समय से अबतक नहीं दिखाई देता है। हमारा साहित्य और समाज वैचारिक धरातल पर नारी को 'शक्ति' का प्रतीक मानता रहा है; पुरुष ही नहीं, देवताओं की भी जननी कहकर उसे 'आदरणीया' कहता रहा है; उसे पूजनीया, महा-भागा, पुण्यवती, गृहलक्ष्मी⁵ कहता है; उसे समाज का आधार मानता है और व्यक्ति, समाज, राष्ट्र- सबके प्रति उसके दायित्व का बोध कराते हुए उसे आदर्श की रक्षा की अनिवार्यता पर बल देता है और इसीलिये उसके लिए बारम्बार अनेक नियम-कानून बनाता रहता है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम वैदिक काल से लेकर अब तक के साहित्य पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय ऐसे नारी-चरित्रों पर प्रकाश डालता रहा है जो अपने आदर्श स्वरूप के कारण जन-मन पर अपना प्रभाव छोड़ते रहे हैं। हम पंचमहाशक्तियों⁶, पंचसतियों⁷, पंचपतिव्रताओं⁸, पंच दिव्यधामेश्वरियों⁹, पंच अवतार-जननियों¹⁰, पंचसाध्वियों¹¹, पंच वीरांगनाओं¹² आदि-आदि विशेषणों से सम्पन्न नारियों का स्मरण बड़े ही गौरव के साथ करते हैं। हमारे साहित्यकारों ने भी ऐसे नारी-चरित्रों की निरन्तर सर्जना की है जिन्होंने अपने गुणों से, अपने कार्यों से समाज के सामने अनेकानेक आदर्श उपस्थित किये हैं और समाज को दिशादृष्टि दी है। दूसरी ओर से ऐसे नारी-चरित्रों से भी हमारा साहित्य भरा पड़ा है जो समाज द्वारा प्रताड़ित होने पर भी शक्तिसम्पन्ना बनकर सामने आईं। इन्द्र द्वारा छलीगई अहिल्या को पति द्वारा शापित होने पर पत्थर के रूप में बदलना पड़ा, रावण द्वारा अपहृत सीता को अग्निपरीक्षा देकर अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने पर भी राम द्वारा परित्याग की पीड़ा सहनी पड़ी, उर्मिला को चौदह वर्षों तक लक्ष्मण की अवहेलना सहनी पड़ी, द्रौपदी को अनेकशः लज्जित और अपमानित होना पड़ा, सती को अपने पिता दक्ष से प्रताड़ित होने पर

यज्ञाग्नि में जलना पड़ा, यशोधरा को गौतम से वियुक्त होना पड़ा- पर ये नारियाँ इतने कष्ट सहने पर भी अपने कर्तव्य से कभी च्युत नहीं हुई; आवश्यकता पड़ने पर जौहर-व्रत भी करती रहीं और तलवार भी उठाती रहीं।

बहरहाल, अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्षरत नारी-चरित्रों में द्रौपदी जैसे कुछ नारी-चरित्र हैं जो समस्त नारी जाति को सम्पत्ति नहीं, व्यक्ति के रूप में स्थापित करने के लिए यत्नशील दिखाई देते हैं अन्यथा तो अधिकांश नारी-चरित्र पुरुष-वर्चस्व को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से स्वीकार करते ही दिखाई देते हैं।

इस भूमिका के आधार पर जब हम जनकनन्दिनी सीता के चरित्र पर दृक्पात करते हैं तो पाते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय सीता के चरित्र से अत्यधिक प्रभावित है। वैदिक काल से लेकर अब तक भारतीय साहित्य में सीता के चरित्रांकन से अनेक पृष्ठ भरे हुए हैं। ब्रह्माण्ड, विष्णु, वायु, भागवत, कूर्म, अग्नि, नारद, ब्रह्म, गरुड, पद्म, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणकाव्य; अध्यात्म-रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्दरामायण आदि काव्य; भट्टिकाव्य (रावणवध), जानकीहरण, दशावतारचरित, उदारराघव, उत्तररामचरित आदि महाकाव्य; कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण, महानाटक तथा हनुमन्नाटक, आश्चर्यचूड़ामणि, प्रसन्नराघव, उन्तत्त राघव आदि नाटक; महाभारत के रामोपाख्यान, द्रोण इत्यादि पर्व; दशरथजातक, अनामक जातक आदि बौद्ध साहित्य; पउमचरिउ (विमलसूरिकृत), पउमचरिउ (स्वयंभूकृत), उत्तरपुराण आदि जैन साहित्य; रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, वैदेही वनवास, साकेत आदि हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु ग्राम्यगीतों तक में भी सीता की समान रूप से प्रतिष्ठा हुई है।

ध्यातव्य है कि रामकथाश्रित रचनाओं में सीता मानवीय मूल्यों से सम्पन्न आदर्श नारी के रूप में चित्रित की गई है। प्रायः सीता को असाधारण त्याग करनेवाली, पतिव्रता, सौम्य, शान्त, धर्मपरायणा, नैतिक मूल्यों से सम्पन्न, प्रेम-सहानुभूति और लज्जाशीलता से ओतप्रोत दिखाया गया है। असल में महर्षि वाल्मीकि ने सीता के चरित्र को जो रूप-आकार प्रदान किया, अन्य रामकथाओं में सीता का कमोवेश यही रूप प्रत्येक काल में दिखाई देता है। किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में नारी का वह परम्परागत रूप- जिसमें वह केवल सेवा और त्याग की मूर्ति, गुणों की खान, सौन्दर्यसम्पन्न, पति की आत्मा का अंश, पृथ्वी के समान धैर्यसम्पन्न, शान्तिसम्पन्न, सहिष्णु, दया, श्रद्धा आदि गुणों से अलंकृत रूप में वर्णित की जाती है- एक भव्य आडम्बर से ओतप्रोत लगता है। आज हमारे मानक बदल चुके हैं और नारी को हम पुरुष के समानान्तर-बिना किसी आडम्बर के खड़ा देखना चाहते हैं अतः सीता का यह रूपांकन आज की नारी की दृष्टि से बहुत अनुकरणीय और आदर्श प्रतीत नहीं होता है। फिर, सीताचरित्र से

जुड़े अनेक सवाल हमारे मनोमस्तिष्क को झकझोरने लगते हैं। परम्परागत सीता राम-वनवास के अवसर पर रावण द्वारा बलपूर्वक अपहृत कर ली जाती है; रावण और रावण के अनेक पुरजनों-परिजनों के द्वारा समय-समय पर प्रताड़ित की जाती है, अन्ततः रावण के पराभव के उपरान्त रावण की कैद से मुक्त होती है तो अग्निपरीक्षा के दौर से गुजरती है; परन्तु राम का सान्निध्य पाते ही लोकापवाद के कारण राम के द्वारा त्याग दी जाती है। पुनः वनवास में रहते हुए अपने गर्भस्थ शिशुओं की सुरक्षा में सन्नद्ध रहती है। राम को उसकी आवश्यकता तब पड़ती है जब आचार्यों द्वारा यह कहा जाता है कि 'पत्नी के बिना यज्ञकार्य सम्पन्न नहीं हो सकता', तब पुनः उसे अग्निपरीक्षा के दौर से गुजरना पड़ता है। हम परिकल्पना कर सकते हैं कि बार-बार सीता को समाज के समक्ष खड़ा करके उस पर अँगुली उठाई गई होगी तब उसे कितना अपमानित, कितना लज्जित होना पड़ा होगा, किन्तु इतने कष्ट, इतनी पीड़ा, इतनी प्रताड़ना सहने के बाद भी वह कहीं भी, कभी भी राम का विरोध नहीं करती, राम पर क्रोधित नहीं होती। वह अपने अधिकारों के लिए कभी नहीं लड़ती और अपने कर्तव्य कभी नहीं भूलती। वह यही मानती है कि उसी के कारण समाज में राम की निन्दा हो रही है। इस पर भी राम के प्रति उसकी श्रद्धा, भक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जबकि राम उसके प्रति अनेकशः शंकाओं से भर जाते हैं। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को यह भय सताता है कि यदि लक्ष्मण के बिना वे अयोध्या लौटेंगे तो लोग यही कहेंगे कि उन्होंने नारी के लिए अपने प्रिय भाई को खो दिया। उनकी दृष्टि में स्त्री की हानि कोई विशेष हानि नहीं है, लेकिन भाई की हानि उनके अपयश का कारण बन जायेगी-

जेहउँ अवध कवन मुँह लाई, नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई।

बार अपजस सहतेउ मुँह लाई, नारि-हानि विशेष छति नाहीं॥¹³

फिर बुनियादी सवाल यहाँ उठता है कि नारी वस्तु है या व्यक्ति? नारी से ही उच्च आदर्श की अपेक्षा क्यों की जाती है? नारी को हर हालत में पुरुष की बात मानना और जैसा वह चाहता है वैसा ही करना क्या जरूरी है? निर्दोष होने पर भी वही कष्ट क्यों सहे? उसे यह कहते हुए बार-बार क्यों गिड़गिड़ाना पड़े कि 'मन-कर्म-कथन से आपकी अनुगामिनी होने पर भी किस अपराध से उसे त्याग दिया गया?' प्रश्न यह भी उठता है कि राम किस अधिकार से बार-बार सीता को अग्निपरीक्षा के लिए कहते रहे और सिर्फ इस भय से कि समाज उनके लिए क्या कहेगा- सीता का परित्याग करने का निर्णय ले बैठे!

कहना न होगा कि नारी को लेकर हमारे समाज में वैचारिक और व्यावहारिक धरातल पर काफी अन्तर दिखाई देता है। व्यावहारिक दृष्टि से स्त्री को अपने सन्दर्भ में

महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने का अधिकार प्रायः आज भी नहीं है। सम्भवतः इसी वजह से वह अन्यान्यों के द्वारा किये गए निर्णयों को सिर झुकाकर मानती रही है, लेकिन उसके अन्तर में विरोध-विद्रोह तो पनपता ही रहा है और वह समाज में स्वाभिमानपूर्वक अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रही है।

स्त्री का यह स्वाभिमान हमारे साहित्यकारों की दृष्टि में भी आया है। सीता के ही चरित्र-वर्णन के उदाहरण से हमारी इस बात की पुष्टि होती है। महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में सीता को कुछ-कुछ आज की नारी के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है किन्तु इससे भी काफी पहले यह कार्य महाकवि स्वयंभू ने किया है।

ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश (ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक व्यवहृत की जानेवाली) भाषा में 'पउमचरिउ' (पद्मचरित) नामक एक राम-कथाश्रित पुराण काव्य की रचना महाकवि स्वयंभू ने की। तुलसीदास से कई शताब्दी पूर्व के कवि स्वयंभू जैन परम्परा के कवि हैं। जैन परम्परा की रामकथा में कई प्रसंगों, पात्रों के चरित्रवर्णन तथा धार्मिक आस्था की दृष्टि से कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। पउमचरिउ की सीता का जन्म धरती से नहीं होता। विदेह के पुत्र भामण्डल और पुत्री सीता के जन्म के साथ कोई अलौकिक कथा नहीं जुड़ी है। राम के वनगमन के समय भी स्वयंभू ने सीता का पक्ष विस्तार से नहीं रखा है। केवल यही बताया है कि उसने अपने पति का अनुगमन किया- नीचा मुख किये हुए, अपने चरणों पर दृष्टि गड़ाए हुए, अपराजिता (कौशल्या) और सुमित्रा की आज्ञा लेकर रावण के लिए वज्र स्वरूप और राम के लिए दुःख की उत्पत्ति की तरह सीता वन को चली।¹⁴ फिर भी इस रचना में सीता का जो चरित्रांकन हुआ है वह अन्यत्र वर्णित सीता-चरित्र से भिन्न है। यहाँ सीता एक कमजोर, अबला नारी के रूप में चित्रित नहीं की गई है अपितु एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप में वह हमारे सामने आती है। वह स्वाभिमानी है और उसका यह रूप आज की नारी के ही रूप का प्रतिनिधि-त्व करता हुआ दिखाई देता है। यहाँ सीता 'युगों-युगों' से मानव द्वारा प्रताड़ित होनेवाली समस्त महिला समाज की प्रतिनिधि होकर सारे पुरुष-समाज को उसके द्वारा किए गए अन्याय और अत्याचारों के लिए फटकारती है और यह घोषणा करती है कि नारी पुरुष की दासी नहीं है--

सीय ण भीय सइत्तण-गव्वे, वल्लेवि पवोल्लिय मच्छर-गव्वे।

'पुरिसणिहीण होन्ति गुणवन्त वि, तियहें ण पत्तिज्जन्ति मरन्त वि॥'¹⁵

पउमचरिउ में सीता के व्यक्तित्व का विकास उस स्थल से दिखाई देता है जब वह रावण के द्वारा बलपूर्वक अपहृत करली जाती है। वनवास के समय धैर्यपूर्वक अपनी पीड़ा को सहती हुई सीता अपहृत होने पर भी धैर्य नहीं छोड़ती, दैन्य-प्रदर्शन नहीं करती

और अपने स्वाभिमान का परित्याग नहीं करती। वह रावण को उलाहना देती है कि- भले ही रावण देवताओं के लिए दुर्जेय हो, परन्तु उसकी अपेक्षा चंचुजीवी जटायु का ही सुभटत्व श्रेष्ठ है जो सीता की सुरक्षा के लिए रावण से ऐसे समय भिड़ गया है जब इन्द्रादि देवसमूह भी उसकी रक्षा के लिए आगे नहीं आया है-

अहो अहो देवहो रणे दुवियड्ढहो। णिय परिहास ण पालिय सण्ढहो।।

वरि सुहडत्तणु चंचु-जीवहो। जो अब्भिट्टु समरे दसगीवहो।।38.14.2-3

लंका में प्रवेश करने से वह स्पष्टतः इन्कार कर देती है। परिणामतः रावण को उसके लिए नगर से बाहर निवास की व्यवस्था करनी पड़ती है। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि रावण सीता को उसके द्वारा इतना विरोध करने पर भी मारना नहीं चाहता, क्योंकि वह सोचता है कि इसे मारने पर मैं इसका सुन्दर मुँह नहीं देख पाऊँगा¹⁶। फिर रावण और रावण की आज्ञा से मन्दोदरी तथा रावण के अन्यान्य परिजनों- सेवकों द्वारा उसे अनेक प्रलोभन दिये जाते हैं, प्रलोभनों से आकृष्ट न होने पर कष्ट पहुँचाया जाता है तब अपनी पीड़ाओं और विपत्तियों को पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल मानकर 'एयडँ दुक्कियकम्महो फलडँ' वह जरूर कहती है परन्तु इस विषम परिस्थिति में भी भय और दैन्य से रहित होकर निडरता से उनका सामना करती है। नन्दनवन में मन्दोदरी रावण के ऐश्वर्य, वैभव को दर्शाते हुए रावण की अतिशय प्रशंसा करके सीता को रावण को स्वीकारने के लिए उत्प्रेरित करती है और सीता के न मानने पर उसे नाना प्रकार के भय दिखाती है तब सीता उसे फटकारती है और कहती है कि- तुम्हारे द्वारा अपने पति के लिए जो दौत्यकर्म किया जा रहा है वह अनुचित है, निन्दनीय है। अपने पति के प्रति मैं सर्वतः एकनिष्ठ हूँ। तुम मुझे आरे से काटो, शूली पर चढ़ाओ, जलती हुई आग में फेंकदो, महागज के दाँतों के बीच डालदो पर तुम्हारा यह प्रस्ताव मुझे स्वीकार नहीं है-

जड वि अज्जु करवतेहँ कप्पहो। जड वि धरेवि सिव-साणहो अप्पहो।।

जड वि वलन्ते हुआसणे मेल्लहो। जड वि महग्गय-दन्तेहँ पेल्लहो।।

तो वि खलहो तहो दुक्किय-कम्महो। पर-पुरिसहो णिवित्ति इह जम्महो।।41.13.3-5

सीता की यह स्पष्टोक्ति उसके शील व चारित्र्य की अभिव्यक्ति करती है, उसके चरित्र की दृढ़ता को भी व्यक्त करती है। साथ ही मन्दोदरी को भी एक स्त्री के रूप में उसके कर्त्तव्य की याद दिलाती है कि पति की दूती बनकर पराई स्त्री के पास जाना गलत है। वह केवल रावण की पत्नी ही नहीं, एक स्त्री भी है। वह मन्दोदरी से ही नहीं, रावण से भी इसी शैली में बात करती है। वह उद्घोषणा करती है कि रावण की सम्पूर्ण सम्पदा उसके लिए तिनके के समान है। उसका राजकुल श्मशान की तरह और यौवन विष-भोजन के समान है-

एउ जं रावण रज्जु तुहारउ। तं महु तिण-समाणु हलुआरउ॥42.7.3

सीता का साहस, तेज, धैर्य हनुमान को यह कहने के लिए बाध्य करता है कि महिला होकर भी सीता में पुरुषों से अधिक साहस है क्योंकि विषम परिस्थितियों में भी इसमें अत्यधिक धैर्य है।¹⁷ उसके धैर्य का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि हनुमान से राम-लक्ष्मण का कुशल समाचार जानने के उपरान्त यानी अपहृत होने के 21 दिनों के बाद ही वह भोजन ग्रहण करती है। फिर हनुमान उन्हें अपने कन्धे पर बैठाकर राम के पास ले चलने का प्रस्ताव रखते हैं तो वे इसे कुलवधु की गरिमा के विरुद्ध कहकर अस्वीकार कर देती हैं। वे कहती हैं कि जनपद के लोग निन्दाशील होते हैं। उनका स्वभाव दुष्ट और मन मलिन होता है, वे व्यर्थ ही दूसरों पर आशंका करने लंगते हैं, अतः तुम्हारे साथ मेरा जाना उचित नहीं है-

गम्मइ वच्छ जइ वि णिय-कुलहरु। विणु भत्तारें गमणु असुन्दरु॥

जणवउ होइ दुगुच्छण-सीलउ। खल-सहाउ णिय चित्तें मइलउ॥

जहिं जें अजुत्तु तहिं जे आसंकइ। मणु रंजेवि सक्को कव ण सक्कइ॥

णिहएँ दसाणणें जय-जय सद्देँ। मइँ जाएवउ सहुँ वलवद्देँ॥50-12.6-9

लंकाविजय के उपरान्त विभीषण सीता को राम के पास ले जाने के लिए जाता है तो सीता उसके साथ जाने से भी इन्कार कर देती है। यहाँ भी सीता का स्वाभिमान झलकता है। वह चाहती है कि राम स्वयं आकर उसे ले जाएँ। सीता स्पष्टतः पुरुषों की स्त्रियों पर आरोप लगाने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है-

विणु णिय-भत्तारें जन्तियहें। कुलहरु जें पिसुणु कुलउत्तियहें॥

पुरिसहुँ चित्तइँ आसीकवसइँ। अलहन्त वि उद्दिसन्ति मिसइँ॥

वीसासु जन्ति णउ इयरहु मि। सुय-देवर-मायर-पियरहु मि॥78.6.2.5

-- बिना पति के जानेवाली कुलपत्नी पर कुलधर भी कलंक लगा देते हैं। पुरुषों के चित्त जहर से भरे हुए होते हैं। नहीं होते हुए भी वे कलंक दिखाने लगते हैं। दूसरों का तो वे विश्वास ही नहीं करते। यहाँ तक कि पुत्र, देवर, भाई और पिता का भी नहीं।

पर वही सीता जो राम के प्रति सदैव एकनिष्ठ है; लक्ष्मण के प्रति मातृत्व भाव रखती है; अपने शील और चारित्र्य की सुरक्षा के लिए सदैव सजग है, अडिग है; कोमल, सरल, निष्पक्ष और निष्कपट है; परिस्थिति विशेष में विरोध और विद्रोह के स्वर भी उच्चरित कर सकती है क्योंकि वह अन्याय सहन नहीं कर सकती, अपने

स्वाभिमान को कतई नहीं छोड़ सकती। लक्ष्मण को शक्ति लगने की बात सुनकर शोकाकुल हुई सीता को रावण द्वारा पुनः अपने वशीभूत करने के लिए अथक प्रयत्न करने पर सीता शंकित हो जाती है, किन्तु वह रावण से दृढ़तापूर्वक यह कहती है कि राम के बिना उसका अस्तित्व उसी प्रकार निरर्थक है जैसे दीपक के बिना शिखा, काम के बिना रति, प्रेम के बिना प्रणयांजलि, सूर्य के बिना किरणावलि, चन्द्रमा के बिना चाँदनी और परमधर्म के बिना जीवदया। उसकी इस शोक-कातर और मूर्च्छित स्थिति को देखकर रावण के हृदय में भी पश्चात्ताप का उदय हो जाता है और यही सीता राम-लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौटने पर जब लोकापवाद के कारण राम द्वारा निर्वासित कर दी जाती है तो अत्यधिक दुःखी होकर घोषणा करती है कि- शीलव्रत को धारण करनेवाली मैं यदि कहीं मारी गई तो मेरी स्त्री-हत्या तुम्हारे ऊपर होगी। लोगों के कारण कठोर राम ने मुझे अकारण निर्वासित कर दिया है-

लोक्यहँ कारणे दुष्परिणामे। हउँ णिक्कारणे घल्लिय रामे ॥

जइ मुय कह वि सइत्तण-धारी। तो तुम्हइँ तिय-हच्च महारी ॥81.13.8-9

कालान्तर में विभीषण, अंगद, सुग्रीव और हनुमान उन्हें वापिस लाने के लिए जाते हैं तो वह राम के अनुचित व्यवहार का भी उसी तेवर से विरोध करती हैं। वे कहती हैं कि जिस पत्थरहृदय राम ने चुगलखोरों की बातों में आकर मुझे डाइनों, भूतों, सिंह, शार्दूल, गेंडे, बर्बर शबर, पुलिन्द, तक्षक, रीछ, साँभर, सियार आदि से भरे हुए भयंकर वन में भेजकर जो पीड़ा पहुँचाई है उसकी जलन सैकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती। राम ने मेरे साथ जो कुछ किया उसके लिए कोई कारण नहीं था-

णिट्ठुर-हिययहो अ-लइय-णामहो। जाणमि तत्ति ण किज्जइ रामहो।

घल्लिय जेण रुवन्ति वणन्तरे। डाइणि-रक्खस-भूय-भयंकरे ॥

जहिँ सदूल-सीह-गय-गण्डा। वब्बर-सवर-पुलिन्द-पयण्डा ॥

जहिँ बहुत तच्छ-रिच्छ-रुरु-सम्बर। स-उरग-खग-मिग-विग-सिव-सूयर ॥

जहिँ माणुसु जीवन्तु वि लुच्चइ। विहि कलि-कालु वि पाणहुँ मुच्चइ ॥

तहिँ वणे घल्लाविय अण्णाणे। एवहिँ किं तहो तणेण विमाणे ॥83.6.2-7

इतना ही नहीं, इस मनस्ताप को भी वे सहन करती हैं और अनिच्छापूर्वक अयोध्या जाना स्वीकार करती हैं। वह कल्पना करती है कि लम्बे समय के बाद राम का सान्निध्य और स्नेह पाकर वह अपने सारे कष्ट भूल जायेगी, किन्तु इसके विपरीत राम उसे व्यंग्य-भरे शब्दों में कटु वचन कहते हैं-

जइ वि कुलुगयाउ णिरवज्जउ। महिलउ होन्ति सुट्टु णिल्लज्जउ॥
 दर-दाविय-कडक्ख-विक्खेवउ। कुढिल-मइउ वड्ढिय-अवलेवउ॥
 वाहिर-धिट्ठउ गुण-परिहीणउ। किह सय-खण्ड ण जन्ति णिहीणउ॥
 णउ गणन्ति णिय-कुलु मइलन्तउ। तिहुअणो अयस-पडहु वज्जन्तउ॥
 अंगं समोड्डेवि धिद्धिक्कारहो। वयणु णिएन्ति केम भत्तारहो॥83.7.2-7

- अर्थात् स्त्री अत्यधिक कुलीन और अनिन्द्य होने पर भी निर्लज्ज, कुटिल, अहंकारी, ढीठ, गुणों से रहित और कुल-कलंकिनी होती है। अपयश की पात्र होने पर भी पति को मुँह दिखाने में झिझकती नहीं है।

यहाँ पर राम का दोहरा चरित्र दिखाई देता है। एक ओर वे विभीषण के सामने स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि - सीता निर्दोष है। वह समुद्र के समान गम्भीर है। मन्दराचल के समान धीर है। मेरे समस्त सुखों का काण है। मैं उसके सतीत्व को जानता हूँ-

... .. जाणमि सीयहें तणउ इत्तणु।
 जाणमि जिह हरि-वंसुप्पण्णी। जाणमि जिह वय गुण-संपण्णी॥
 जाणमि जिह जिण-सासणो भत्ती। जसणमि जिह महु सोक्खुप्पत्ती॥
 जा अणु-गुण-सिक्खा-वय-धारी। जा सम्मत्त-रयण-मणि-सारी॥
 जाणमि जिह सायर-गम्भीरी। जाणमि जिह सुर-महिहर-धीरी॥81.3॥

दूसरी ओर वे ही राम सीता के सामने आनेपर उससे व्यंग्यभरे कटु शब्द कहने से नहीं चूकते। न केवल सीता पर बल्कि समस्त नारी जाति पर वे व्यंग्य करते हैं। राम के व्यंग्यवाण सीता को मर्माहत कर देते हैं। उसका आहत स्वाभिमान इस अपमान को सहने में असमर्थ हो जाता है और वह प्रचण्ड भाव से गर्वपूर्वक कहती है-

सीय न भीय सइत्तण-गव्वे। वलेवि पवोल्लिय मच्छर गव्वे। 83.8.7

सीता राम के बहाने सारी पुरुष-जाति की भर्त्सना करते हुए अपना रोष प्रकट करती हुई कहती है- स्त्रियाँ मृत्युपर्यन्त पुरुष का परित्याग नहीं करतीं, चाहे वे गुणवान हो या कमजोर। इस पर भी पुरुष उसे ठीक उसी प्रकार कष्ट पहुँचाता है जैसे पवित्र और कुलीन नर्मदा नदी रेत, लकड़ी और पानी बहाती हुई समुद्र के पास जाती है और समुद्र उसे खारा पानी देता है। लोक इस तथ्य का प्रमाण है कि चन्द्रमा कलंकयुक्त है पर उसकी चाँदनी निर्मल होती है। मेघ काले हैं पर उनमें समाहित बिजली उज्ज्वल है। पत्थर अपूज्य होता है पर उससे बनी प्रतिमा पूज्य होती है। कीचड़ लगने पर लोग पैर

धोते हैं, लेकिन उससे उत्पन्न कमलमाला देवताओं को चढ़ाई जाती है। दीपक स्वभाव से काला होता है पर उसकी शिखा सर्वत्र आलोक फैलाती है। स्पष्ट है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं। इतना ही नहीं, निरर्थक लोकापवाद के कारण पुरुष निर्दोष स्त्री का परित्याग कर सकता है लेकिन स्त्री मृत्युपर्यन्त पुरुष का साथ वैसे ही नहीं छोड़ती जैसे लता पेड़ का सहारा मरते-मरते भी नहीं छोड़ती। मैं अपनी पवित्रता सिद्ध करने के लिए तत्पर हूँ। यदि आग मुझे जलाने में समर्थ हो तो जला दे!''¹⁸

सीता की अग्निपरीक्षा के लिए गङ्गा खोदकर उसमें लकड़ियाँ भर दी गईं। सीता लकड़ियों के उस ढेर पर बैठ गई और अग्नि का आवाहन करते हुए उसने कहा- 'देवताओ और मनुष्यो! आप लोग मेरा सतीत्व और राघव की दुष्टता देख लें। हे वैश्वानर! तू भी जल जायेगा पर यदि मैं अपराधिनी होऊँ तो मुझे क्षमा मत करना।'¹⁹ स्वयंभू की सीता की यह गर्वोक्ति, यह आक्रोश, यह क्रोधावेग, यह विरोधी स्वर अग्नि-परीक्षा के उपरान्त शान्त तो हो जाता है लेकिन इसकी गूँज मानो दिग्दिगन्त में, युग-युगान्तर तक फैल जाती है। यह स्वर समस्त मानवजाति को यह सन्देश देता है कि अन्याय-अत्याचार का विरोध अत्यावश्यक है। समाज का वह कमजोर पक्ष, जिसे युगों-युगों से सबलों द्वारा दबाया जाता रहा है, सिर उठाकर अपना आक्रोश प्रकट करे, अपना स्वतन्त्र आत्मविकास करे, अपनी उपस्थिति दर्ज कराए, यातनाओं, अन्यायों, अत्याचारों का विरोध करे, तभी उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। सीता के इस रूप और उन पर होनेवाले अन्याय को देखकर अग्निपरीक्षा के अवसर पर उपस्थित सभी व्यक्ति हा-हाकार करने लगे और राम को धिक्कारने लगे कि राम निष्ठुर, निराश, मायारत, अनर्थकारी और दुष्टबुद्धि हैं। पता नहीं, सीता देवी को होमकर वे कौन सी गति पायेंगे-

णिङ्गुर णिरासु मायारउ, दुक्किय-गारउ कूर-मइ।

णउ जाणहूँ सीय वहेविणु, रामु लहेसइ कवण गइ॥83.12.9

परन्तु अग्नि सीता को नहीं जला सकी। सीता की पवित्रता सिद्ध हुई। अन्ततः राम को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने सीता से क्षमा-याचना की-

तो वोल्लिज्जइ राहव-चन्देँ। 'णिककारणेँ खल-पिसुणहँ छन्देँ।

जं अवियप्पेँ मइँ अवमाणिय। अण्णु वि दुहु एवहु पराणिय॥

तं परमेसरि महु मरुसेज्जहि। एक्क-वार अवराहु खमेज्जहि॥83.16

- अकारण दुष्ट चुगलखोरों के कहने में आकर मैंने जो तुम्हारी अवमानना की और जो तुम्हें इतना बड़ा दुःख सहन करना पड़ा है, हे परमेश्वरी! तुम उसके लिए मुझे

एक बार क्षमा कर दो!

राम के द्वारा यह क्षमा-याचना सीता के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देती है। सीता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महान चरित्र के सन्दर्भ में स्वयंभू ने अनेक पात्रों-लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान, लंकासुन्दरी आदि के द्वारा अनेकशः अपने उद्गार व्यक्त किये हैं। लंकासुन्दरी के मुँह से स्वयंभू का यह कथन उसकी महानता का सही-सही बखान है कि 'चाहे कोई आग को जला दे, हवा को पोटली में बाँध दे, आकाश-पाताल में लोटने लग जाये, ये बातें सम्भव हो सकती हैं पर सीता के चरित्र को कलंकित करना असम्भव है-

देव देव जइ हुअवहु डज्जइ, जइ मारुउ पड-पोटले बज्जइ।

जइ पायालें णहंगणु लोट्टइ, कालान्तरेण कालु जइ तिट्टइ॥

जइ उप्पज्जइ मरणु कियन्तहों, जइ णासइ सासणु अरहन्तहों।

जइ अवरें उगमइ दिवायरु, मेरु-सिहरें जइ णिवसइ सायरु॥

एउ असेसु वि सम्भाविज्जइ, सीयहें सीलु ण पुणु मइलिज्जइ॥83.4.4

इस तरह राम की तुलना में स्वयंभू ने सीता के चरित्र को कहीं ऊँचा उठाया है। यह सीता 'देवता-भाव' से सम्पन्न नहीं है, वह एक सामान्य किन्तु दृढ़प्रतिज्ञ, स्वाभिमानी, कष्टसहिष्णु, कर्मठ, निर्भीक एवं साहसी, लोककलाओं में प्रवीण, कोमल-हृदया, सच्चरित्र और स्वतन्त्र व्यक्तित्व से सम्पन्न तथा आत्मविकास में संलग्न रहनेवाली है और इस रूप में वह आज की नारी के समकक्ष खड़ी है आत्मविश्वास से भरी हुई, अन्तर्द्वन्द्व और संघर्षों के बीच, अन्याय-अत्याचार का विरोध करती हुई।

1. नरेश मेहता, वनपाखी सुनो।

2. स्वतन्त्रता आन्दोलन और नारी (महादेवी वर्मा का निर्मला ठाकुर द्वारा लिया गया साक्षात्कार), माध्यम, अक्टूबर-दिसम्बर, 2004, पृष्ठ-133

3. महादेवी साहित्य समग्र

4. हम औरतें, अमिता, उत्तरा. वर्ष 14, अंक-4, जुलाई-सितम्बर, 2004

5. पूजनीया महाभागा: पुण्याश्च गृहदीप्तयः

स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्ताद्रक्ष्या विशेषतः॥

- विदुरनीति और जीवनचरित्र, सं.पं. ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी, छठा अध्याय, पृष्ठ-139

6. लक्ष्मी, सरस्वती, काली, तारा, दुर्गा।
7. सावित्री, शैव्या, सीता, दमयन्ती, देवहृति।
8. सती, पार्वती, अनुसूया, शण्डिली, अरुन्धती।
9. रमा, राधिका, सीता, गौरी, ब्रह्माणी।
10. अदिति, कौशल्या, देवकी, रोहिणी, यशोदा।
11. मदालसा, वैशालिनी, सुकन्या, चिन्ता, बेहुला।
12. संयोगिता, दुर्गावती, कर्मदेवी, कैकेयी, लक्ष्मीबाई।
13. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, 61.11,12।
14. हेड्डामुह कम-कमलु णियच्छेवि, अवराइय-सुमिति आउच्छेवि।
 णिग्गय सीयाएवि सिय हरहन्त णित-भवणहोँ।
 रामहो दुक्खुप्पत्ति असरि णाँ अइवयणहोँ॥

- पउमचरिउ 23.6.8-9

15. वही, 83.8.7-9, 83.9.
16. वही, वही, 38.14
17. धीरु जे धीरउ होइ णियाणें वि। दुक्कन्तए जीविय-अवसाणें वि॥
 तियहे होइ जं सीयहे साहसु। तं तेहउ पुरिसहोँ वि ण ढइडसु॥49.17.2-3
18. पउमचरिउ 83.8.7-9; 83.9
19. अहो देवहोँ महु तणउ सइत्तणु। जोएज्जहोँ रहुवइ-दुट्ठत्तणु।
 अहोँ वइसाणर तुहु मि डहेज्जइ। जइ विरुआरी तो म खमेज्जहि॥83.4.7-8

हिन्दी विभाग
 कुमाऊँ विश्वविद्यालय
 नैनीताल (उत्तरांचल)

गिरिविंज्झु दुग्गमसिहरु

एम पइसइ निवइ खंधारु
 गिरिविंज्झु दुग्गमसिहरु सरलवंसपव्वहिं अहिट्टिउ।
 पुव्वावरोवहि धरवि धरपमाणदंडु व परिट्टिउ॥
 गिरिनिज्झरकंदरविसम तरुवरनियरवरिट्टि।
 रवबहिरियवणयरभमिर विंज्झमहाडइ दिट्टि॥१॥

कहिं मि- अहिमारखर-खइर-धवधम्मणा कंटिवोरीघणा।
 वंसिज्झंसी-तिरिंगिच्छि-अंजणवणा रोहिणी-रावणा।
 विल्ल-चिरहिल्ल-अंकोल्लतरु-धायई मल्लि-भल्लायई।
 घोंटि-टिंबरु-निघण-फणसमहरुक्खया हिंगुणी-मोक्खया।
 सिरिसु सेवन्नि-सेहालिया-सिसमी सज्ज-गुंजा-समी।
 कडहु-किरिमाल-करहाड-कणियारिया कुडय-गणियारिया।
 कउह-वड-ढउह-सकरीर-करवंदिया मार-महु-सिंदिया।
 निंब-कोसंब-जम्बुइणि-निंबुंबरा सगगलगं वरा।

महाकवि वीर, जंबूसामिचरिउ 5.8.1-12

- इस प्रकार नृपति का स्कन्धावार सीधे बाँसों की मेखलाओं से भरे हुए एवं दुर्गम शिखरोंवाले विंध्यपर्वत में प्रविष्ट हुआ, जो पूर्व और अपर (पश्चिम) उदधि को धारण करके धराके प्रमाणदण्ड के समान स्थित था। इसके उपरान्त पहाड़ी झरनों, विषम कंद-राओं और सुन्दर वृक्षों के उत्तम कुंजों तथा अपने शोर से बहरा कर देनेवाले वनचरों के भ्रमण से युक्त विंध्य महाअटवी दिखाई दी। कहीं अहिमार, कठोर खदिर (खैर), धव, धम्मण और घने कंटिली बेरी के वृक्ष थे। कहीं बाँस, झंसी (झाड़), तिरिंगिच्छ और अंजण तथा रोहिणी (गुल्म विशेष) व रावण (औषधि विशेष) आदि के बड़े-बड़े वन थे। कहीं बेल, चिरिहिल्ल, अंकोल्ल, धातकी और मल्लि तथा भल्लातकी के वृक्ष थे। कहीं पर मुख्यतया घोटी, टिंबर, निधन, फणस व हिंगुणी के बड़े-बड़े वृक्ष थे! कहीं सिरिष, सेवणि, शोफालिका, सिसम (शीशम-शिशपा), सर्ज, गुंजा और शमी (छोंकार) के वृक्ष थे। कहीं कटभू (कटहल), किरिमाल, शिफाकंद (मैनफल) और कर्णिकार (कनैर) व कुटज और गणिकार के तरु थे। कहीं ककुभ (चंपा) वट, ढउह (ढौह) करील, करवंदी (करौंदा) मार व महुआ और सिंदी के वृक्ष थे। कहीं निंब, कोशाग्र, जंबूकिनी (बेतस-बेंत), नींबू व उंबर (उदुंबर) के सुन्दर वृक्ष मानो स्वर्ग को छू रहे थे।

अनुवादक - डॉ. विमलप्रकाश जैन

वीर कवि-विरचित जंबूसामिचरिउ में विद्युच्चर मुनि द्वारा बारह भावनाओं का अनुचिन्तन

- डॉ. सूरजमुखी जैन



संसार से विरक्त मुमुक्षु जम्बूस्वामी को संसाराभिमुख करने में असफल होकर चौरकर्म में लिप्त विद्युच्चर चोर भी जम्बूस्वामी के साथ ही जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है। परम तपस्वी, 11 अंगधारी विद्युच्चर महामुनि विहार करते हुए अपने श्रमणसंघ सहित ताम्रलिप्ति नगर में पहुँचते हैं। वहाँ रात्रि में भद्रभारी नामक कात्यायनी देवी द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग को सहन करते हुए महामुनि अपने वैराग्य को सुदृढ़ करने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं। पण्डित दौलतराम जी ने वैराग्य उत्पन्न करने के लिए बारह भावनाओं के अनुचिन्तन को माता के समान बताया है।'

अनित्य भावना

जिह जिह घोरुवसग्गु पहावइ
गिरिनइपूरु व आउसु खुट्टइ
सिय-लावण्णु वण्णु-जोव्वणु-बलु
बंधव-पुत्त-कलत्तइँ अण्णइँ
रह-करि-तुरय-जाण-जंपाणइँ
चामर-छत्त-चिंध सिंहासणु

तिह तिह जगु अणिच्चु परिभावइ।
पक्कफलं पि व माणुसु तुट्टइ।
गलइ नियंतहो णं अंजलिजलु।
पवणाहयइँ जंति णं पण्णइँ।
अहिणवघणउन्नयणसमाणइँ।
विज्जुलचवलविलासुवहासणु।

आसि निमित्तु जं जि अणुरायहो दिवसहिं कारणु तं जि विसायहो।
 मोहें तो वि जीउ अवगण्णइ अजरामरु अप्पाणउ मण्णइ।
 घत्ता- अद्भवभावण एह मणें जायइ जासु विवज्जियकामहों।
 दंसणानाणचरित्तगुणु भायणु होइ सो ज्जि सिवधामहों॥11.1॥

- जैसे-जैसे उपसर्ग बढ़ता जाता है वैसे-वैसे महामुनि विद्युच्चर जगत की अनित्यता का चिन्तन करते हैं। वे विचारते हैं कि- आयु उसी प्रकार खण्डित हो जाती है जैसे गिरि-नदी का पूर। मनुष्य-जीवन उसी प्रकार टूट जाता है जैसे पके हुए फल वृक्ष से टूटकर गिर जाते हैं। लक्ष्मी, लावण्य, शरीर का गौर-कृष्ण आदि वर्ण, यौवन और बल अंजलि के जल के समान देखते ही देखते गलित हो जाते हैं। बान्धव, पुत्र, स्त्री तथा अन्य सभी इस तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे वायु से आहत होकर पत्ते नष्ट हो जाते हैं। रथ, हाथी, घोड़े, यान और पालकी सब नये उमड़ते हुए बादलों के समान क्षणभंगुर है। चमर, छत्र, ध्वजा और सिंहासन आकाश में चमकते हुए विद्युत के चंचल विलास का भी उपहास करनेवाले हैं अर्थात् उससे भी अधिक क्षणिक हैं। पहले जो अनुराग का कारण होता है, वही दिन व्यतीत होने पर विषाद का कारण बन जाता है। इतना होने पर भी मोह के कारण जीव इसकी उपेक्षा कर अपने को अजर-अमर मानता है। यह अनित्य भावना जिस कामरहित व्यक्ति के मन में उत्पन्न होती है वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणों से युक्त मानव मोक्ष प्राप्त करता है।

अशरण भावना

मरणसमएँ जमदूयहिं निज्जइ असरणु जीउ केण रक्खिज्जइ।
 जइ वि धरंति धरियधुर माणव गरुड-फण्णिद-देव-दिढदाणव।
 अक्क-मियंक-सुक्क-सक्कंदण हरि-हर-बंध वइरि-अक्कंदण।
 पण्णारहं खेत्तेसु सुहंकर कुलयर-चक्कवट्टि-तित्थंकर।
 जइ पइसरइ गाढपविपंजरे गिरिकंदरे सायरे नइ-निज्जरे।
 हरिणु जेम सीहेण दलिज्जइ तेम जीउ कालें कवलिज्जइ।
 आउसु कम्मु निबद्धउ जेत्तउ जीविज्जइ भुंजंतहँ तेत्तउ।
 तहो कम्महो थिरु खणु वि न थक्कइ तिहुवणे रक्ख करेवि को सक्कइ।
 घत्ता- दुत्तरेँ भवसायरसलिलें वुड्ढंतहँ जगे को साहारइ।
 जिणसासण-उवएसियउ दहविहु धम्मु एक्कु पर तारइ॥11.2॥

अब महामुनि अशरण भावना का चिन्तन करते हुए विचारते हैं कि- मृत्यु के समय जब यमदूत जीव को ले जाते हैं उस समय जीव की रक्षा कौन कर सकता है? चाहे बड़े-बड़े संग्राम-धुरन्धर, सुभट पुरुष, गरुड़, फणीन्द्र, देव, बलिष्ठ दानव, सूर्य, चन्द्र, शुक्र, शक्र, शत्रु को आक्रन्दन करानेवाले हरि, हर, ब्रह्मा, पन्दह क्षेत्रों में कल्याणकारी कुलकर, चक्रवर्ती या तीर्थकर ही क्यों न उसे धारण कर लें, चाहे वह सुदृढ़ वज्रपंजर में प्रवेश कर जाय या पर्वत, गुफा, सागर, नदी अथवा निर्झर में प्रवेश कर जाये तो भी जिस प्रकार सिंह के द्वारा हरिण मार डाला जाता है, उसी प्रकार जीव भी काल का ग्रास बन जाता है। जीव जितने समय के लिए आयु कर्म का बन्ध करता है उतने समय तक ही उसे भोगते हुए जीता है, उससे अधिक एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। तीनों लोक में कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है। इस दुस्तर भवसागर के जल में डूबते हुए को कौन सहारा देता है? एकमात्र जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट दश प्रकार का धर्म ही उसे भवसागर से पार कर सकता है।

संसार भावना

संसारणुवेक्ख भाविज्जइ

कम्मवसेण जीउ पाविज्जइ।

जोणि-कुलाउ-जोय-सय-संकडें

चउगइभमणें विवज्जियकंकडें।

जम्मंतरइँ लेंतु मेल्लंतउ

कवणु न कवणु गोत्तु संपत्तउ।

बप्पु जि पुत्तु पुत्तु जायउ पिउ

मित्तु जि सत्तु सत्तु बंधइ थिउ।

माय जि महिल महेली मायरि

बहिणि वि धीय धीय वि सहोयरि।

सामिउ दासु होवि उप्पज्जइ

दासु वि सामिसालु संपज्जइ।

केत्तिउ कहमि मुणहु अणुमाणें

जम्मइ अप्पाणउ अप्पाणें।

नारउ तिरिउ तिरिउ पुणु नारउ

देउ वि पुरिसु नरु वि वंदारउ।

घत्ता- इय जाणेवि संसारगइ दंसण-नाणु जेण नाराहिउ।

अच्छइ सो मिच्छा-छलिउ काम-कोह-भय-भूएँहिँ वाहिउ ॥11.3॥

तदनन्तर, वह महामुनि संसारानुप्रेक्षा का चिन्तन करते हुए विचारते हैं- चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव मर्यादारहित होकर कर्मवश सैकड़ों संकीर्ण योनियों, कुलों, आयु तथा योगों को प्राप्त करता है। जन्म से जन्मान्तर को धारण करते हुए इस जीव ने कौन-सा गोत्र नहीं पाया! पिता पुत्र और पुत्र पिता हो जाता है, मित्र शत्रु और शत्रु बान्धव हो जाते हैं। माता स्त्री और स्त्री माता बन जाती है। बहन पुत्री और पुत्री बहन हो जाती है। स्वामी दास होकर उत्पन्न हो जाता है और दास श्रेष्ठ स्वामी बन

जाता है। कहाँ तक कहें! अनुमान से ही जान लीजिये। स्वयं अपने से आप ही उत्पन्न हो जाता है। देव मनुष्य और मनुष्य देव हो जाता है। इस प्रकार संसार की गति को जानकर जिसने दर्शन और ज्ञान की आराधना नहीं की वह मिथ्यात्व से छला जाकर काम, क्रोध व भय के वशीभूत होकर दुःखी जीवन बिताता है।

एकत्व भावना

जीवहों नत्थि को वि साहिज्जउ	कम्मफलइँ जो भंजइ विज्जउ।
एक्कु जि पावइ निउइ महल्लउ	निवडइ घोरनरएँ एक्कल्लउ।
एक्कु जि खरघम्मणेण विलिज्जइ	एक्कु वि वइतरणिहि वोलिज्जइ।
एक्कु जि ताडिज्जइ असिवत्तहिँ	एक्कु जि फाडिज्जइ करवत्तहिँ।
एक्कु जि जलें जलयरु वणें वणयरु	एक्कु जि महिहरकंदरें अजयरु।
एक्कु जि मेच्छु चंडपरिणामउ	एक्कु जि संदु विसमबहुकामउ।
एक्कल्लो वि महिल एक्कु जि नरु	एक्कु जि महिवइ एक्कु जि सुरवरु।
एक्कु जि जोएं गलियवियप्पउ	जायइ जीउ सुद्धपरमप्पउ।

घत्ता- एक्कु जि भुंजइ कम्मफलु जीवहों बीयउ कवणु कलिज्जइ।

सत्तु मित्तु कहिँ संभवइ रायदोसु कसु उप्परि किज्जइ॥11.4॥

पुनः वे एकत्व भावना का चिन्तन करते हैं- जीव का ऐसा कोई भी सहायक नहीं है जो कर्म के फलों को काट दे। वह अकेला ही महान् मोक्ष को पाता है और अकेला ही घोर नरक में गिरता है। वह अकेला ही तीक्ष्ण ताप से गलाया जाता है और अकेला ही वैतरणों में डूबता है। अकेला ही असि से फाड़ा जाता है और अकेला ही करौतो से चीरा जाता है। अकेला ही जल में जलधर तथा वन में वनचर होता है। अकेला ही पर्वत की गुफाओं में अजगर होता है। अकेला ही चण्ड परिणामोंवाला म्लेच्छ होता है और अकेला ही तीव्र काम-वासनावाला नपुंसक होता है। अकेला ही स्त्री और अकेला ही पुरुष होता है। अकेला ही राजा और अकेला ही देव होता है। अकेला ही योग के द्वारा सम्पूर्ण विकल्पों को त्यागकर शुद्ध परमात्मा होता है। जीव अकेला ही कर्म-फलों को भोगता है, दूसरे किसको जीव का बन्धु बान्धव या शत्रु-मित्र कहा जाये और किसके ऊपर राग-द्वेष किया जाय!

अन्यत्व भावना

अण्णत्ताणुवेक्ख भावइ पुणु

बज्झइ अण्णकम्मपरिणामें

अण्णु सरीरु अण्णु जीवहों गुणु।

जणें कोकिज्जइ अण्णें नामें।

गोत्तु निबंधइ अण्णहिं खोणिहिं
 अण्णेण जि पियरेण जणिज्जइ
 अण्णु को वि एक्कोयरु भायरु
 अण्णु कलत्तु मिलइ परिणंतहं
 अण्णु होइ धणलोहें किंकरु
 अण्णु अणाइ-अणंतु सचेयणु

उप्पज्जइ अण्णण्णहिं जोणिहिं।
 अण्णइ मायइ उयरें धरिज्जइ।
 अण्णु मित्तु घणनेहकयायरु।
 अण्णु जि पुत्तु होइ कामंतहं।
 अण्णु जि पिसुणु होइ असुहंकरु।
 सावहि अण्णु पवड्ढियवेयणु।

घत्ता- अण्णण्णाइँ कलेवरइँ लइयइँ मुक्कइँ भवसंघारणें।

अण्णु जि निरवहिजीउणु कवणु ममत्तिभाउ तणुकारणें ॥11.5॥

इसके बाद वे महामुनि अन्यत्व भावना का चिन्तन करते हैं- जीव का गुण अन्य है और शरीर अन्य है। परिणामों के कारण वह अपने से भिन्न कर्म-प्रकृतियों से बंधता है, लोगों में वह किसी अन्य नाम से पुकारा जाता है, भिन्न-भिन्न पृथ्वियों में भिन्न-भिन्न गोत्र बाँधता है और भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। उत्पन्न करने-वाला पिता भी अन्य होता है और उदर में धारण करनेवाली माता भी अन्य होती है, सहोदर भाई भी कोई अन्य होता है और घना स्नेह करनेवाला मित्र भी अन्य ही होता है। परिणय करते हुए अन्य स्त्री मिलती है और कामभोग से अन्य ही पुत्र उत्पन्न होता है। धन के लोभ से अन्य ही दास होता है और अकल्याण करनेवाला दुर्जन भी अन्य ही होता है। जीव का अनादि अनन्त सचेतन रूप अन्य ही होता है तथा कर्मों के कारण सादि-सान्त स्वरूप अन्य ही होता है। बार-बार जन्म लेने में भिन्न-भिन्न शरीर धारण किये और छोड़े। जीव का निरवधि ज्ञान गुण इन सबसे भिन्न है। अतः इस शरीर से क्या ममत्व करना?

अशुचि भावना

जंगमेण संचरइ अजंगमु
 अड्ढवियड्ढहड्ढसंघडियउ
 रुहिर-मास-वस-पूयविटलटलु
 थवियउ तो किमि-कीडु पयट्टइ
 मुहबिंबेण जेण ससि तोलहि
 लोयणेसु कहिं गयउ कडक्खणु
 विप्फूरियाहरत्तु कहिं वट्टइ
 धूयविलेवणु बाहिरि थक्कइ

असुइ सरीरें न काइँ मि चंगमु।
 सिरहिं निबद्धउ चम्मं मढियउ।
 मुत्तनिहाणु पुरीसहो पोट्टलु।
 दड्ढु मसाणो छारु पल्लट्टइ।
 परिणइ तासु कवोलें निहालहि।
 कहिं दंतहिं दरहसिउ वियक्खणु।
 कोमलबोल्लु काइँ न पयट्टइ।
 असुइ गंधु को फेडिवि सक्कइ।

घत्ता- असुइसरीरहो कारणेण केवलु सुद्ध अप्पु अवगण्णइँ।

किसि-कव्वाड-वणिज्जफलु सेवकिलेसु सुहिल्लउ मण्णइँ॥11.6॥

तदनन्तर वे अशुचि भावना का चिन्तन करते हैं- चेतन (आत्मा) के सहारे से अचेतन (शरीर) का संचरण होता है। इस अशुचि शरीर में कुछ भी भला नहीं है। यह शरीर आड़े-टेढ़े हाड़ों से संघटित है, शिराओं से बँधा हुआ है और चमड़े से मढ़ा हुआ है। यह शरीर रक्त, मांस और वसा की गठरी है, मूत्र का निधान है और मल की पोटली है। मरणोपरान्त रख देने पर इसमें कीड़े-मकोड़े हो जाते हैं, श्मशान में जलाने पर राख बन जाता है। जिस मुखबिम्ब से चन्द्रमा की तुलना की जाती है, आयु व्यतीत होने पर उसकी परिणति कपोलों पर देखिये! अब नेत्रों का कटाक्ष कहाँ गया? दाँतों से मन्द-मन्द मुस्कुराना कहाँ गया? होठों की शोभा कहाँ गयी? अब कोमल वचन क्यों नहीं प्रवृत्त होते? धूप आदि का विलेपन बाहर ही रहता है, शरीर के भीतर की दुर्गन्ध को कौन मिटा सकता है? अज्ञानी जीव इस अपवित्र शरीर के कारण शुद्ध आत्मा की उपेक्षा करता है और खेती, कबाड़ीपन, वाणिज्य फल तथा सेवा के कष्ट को सुखकर मानता है।

आस्रव भावना

नारय-तिरिय-नरामर थावण

मुणि परिभावइ आसवभावण।

तणु-मण-वयण जोउ जीवासउ

कम्मागमणवारु सो आसउ।

असुहजोएँ जीवहोँ सकसायहोँ

लगाइ निविडकम्मलु आयहोँ।

कप्पडेँ जेम कसायइ सिट्टउ

जायइ बलहरंगु मंजिट्टउ।

अबलु नरिंदु जेम रिउसिमिरेँ

मंदुज्जोउ दीउ जिह तिमिरेँ।

जीउ वि वेढिज्जइ तिह कम्मैँ

निवडइ दुक्खसमुदे अहम्मैँ।

अकसायहोँ आसवु सुहकारणु

कुगइ-कुमाणुसत्तविणिवारणु।

सुहकम्मेण जीउ अणु संचइ

तित्थयरत्तु गोत्तु संपज्जइ।

घत्ता- मिच्छादंसणे मइलियउ कुडिलभाउ जायइ सकसायहोँ।

काय-वाय-मणपंजलउ पुण्णनिमित्तु होइ अकसायहोँ॥11.7॥

पुनः वे मुनि नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति में स्थापन करनेवाली आस्रव भावना का चिन्तन करते हैं- जीव के आश्रय से होनेवाली मन, वचन और काय की क्रिया, जो कर्मों के आने का द्वार है, वही आस्रव है। सकषाय जीव के अशुभ योग से कर्ममल आकर उसी प्रकार लग जाता है जैसे गौंद लगेहुए कपड़े में मंजीठ का रंग खूब गाढ़ा हो जाता है। जिस प्रकार दुर्बल राजा को शत्रु सेना द्वारा और मन्द प्रकाशवाले दीपक को अन्धकार के द्वारा घेर लिया जाता है, उसी प्रकार सकषाय जीव

भी कर्मों से वेष्टित कर दिया जाता है और अधर्म के कारण वह दुःख के सागर में पड़ जाता है। अकषाय (मन्द कषायवाले) का आस्रव शुभ बन्ध का कारण होता है, वह खोटी गति और मनुष्य गति में भी अधम मनुष्य नहीं होने देता। शुभ कर्म के द्वारा शुभ परमाणुओं का संचयकर जीव तीर्थकर गोत्र को भी प्राप्त कर लेता है। सकषाय जीव का भाव मिथ्या दर्शन के कारण कुटिल हो जाता है और शुभ मन-वचन-कायवाले अल्प कषाय- वाले जीव का भाव पुण्य-बन्ध का कारण होता है।

संवर भावना

सहइ परीसहु परमदियंबरु

इंदियवित्तिछिहु दिहु ढक्कइ

नावारूहु जेम जलि जंतउ

जो देविणु पडिबंधणु वारइ

अह मोहिउ मइंधु जइ अच्छइ

इय कज्जे अकसाउ कसायहो

कोहहो खंति नाणु अण्णाणहो

अणसणु रसगिद्धिहि निद्धाडणु

आसवथंभणु जायइ संवरु।

नवउ कम्म पइसरेवि न सक्कइ।

सुसिरसएहिं सलिलु पइसंतउ।

तीरुत्तारु तासु को वारइ।

कवण भंति वुद्धेवि खउ गच्छइ।

दिज्जइ विरइ-निबंधणु रायहो।

लोहहो तोसु अमाणु वि माणहो।

पायच्छित्तु पमायहो साडणु।

घत्ता- इय जो कुम्मायारसमु संवरियप्पु न आसउ गोवइ।

लाइवि दावानलु गहणे मारुयसम्मुहे होइवि सोवइ।।11.8।।

फिर वे दिगम्बर मुनि घोर उपसर्ग को सहन करते हुए आस्रव को रोकनेवाली संवर भावना का चिन्तन करते हैं- इन्द्रिय-वृत्तिरूपी छिद्रों को दृढ़ता से ढक देने पर नया कर्म प्रवेश नहीं कर सकता। जिस प्रकार नाव में बैठा हुआ जो व्यक्ति नाव में सैकड़ों छिद्रों से प्रवेश करते हुए जल को छिद्रों को बन्द करके रोक देता है उसे किनारे तक पहुँचने से कौन रोक सकता है! किन्तु यदि कोई मति का अन्धा व्यक्ति मूढ़ होकर बैठा रहे, छिद्रों को बन्द न करे तो इसमें क्या भ्रान्ति है कि वह डूबकर विनाश को प्राप्त होगा! अतः कषाय के लिए अकषाय, राग के लिए विरति, क्रोध के लिए क्षमा, अज्ञान के लिए ज्ञान, लोभ के लिए सन्तोष, मान के लिए मार्दव का निबन्धन (रोक) लगाना चाहिये। अनशन रस-लोलुपता को दूर करनेवाला है तथा प्रायश्चित प्रमाद को नष्ट करनेवाला है, इस प्रकार जो कूर्माकार के समान अपने को संवृत करके आस्रवों से अपनी रक्षा नहीं करता, वह मानो वन में आग लगाकर पवन के सम्मुख मुख करके सोता है।

निर्जरा भावना

दूरि निरत्थ मरण-जम्मण-जर
 उइउ सुहासुहफलु भुंजिज्जइ
 मोक्ख-बंधभेएहिं नियाणिय
 नरसमुब्भव-नारयजीवहं
 दुह-सुहभुंजणएहो निज्जर
 जं निज्जरइ दुक्खु मुणि अंगें
 अवरु वि जो सम्मत्तालोयणु
 रायरोसरहियउ नीसल्लउ

पुणु अवलोयइ भावण निज्जर।
 आसियकम्महों निज्जर किज्जइ।
 कुसलाकुसलमूल परियाणिय।
 सेसहं मिच्छादंसणकीवहं।
 अकुसल-अट्ट-रउदनिरंतर।
 कायकिलेस-परीसहसंगें।
 उवयसहाव-सुहासुहभोयणु।
 सुक्खु दुक्खु निज्जरियउ भल्लउ।

घत्ता- पक्कउ फलु तलें निवडियउ विंटे पुणु वि जेम-नउ लग्गइ।

कम्मु वि निज्जरसाडियउ पुणु वि न उवइ नाणें जो जग्गइ॥11.9॥

फिर वे मुनि जन्म-जरा और मरण को निरस्त करनेवाली निर्जरा भावना का चिन्तन करते हैं- उदय में आये हुए कर्मों के शुभ-अशुभ फल को भोगना चाहिये और स्थित (उदय में नहीं आये हुए) कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये। बन्ध और मोक्ष की विशेषता के भेद से निर्जरा दो प्रकार की होती है- कुशल मूल और अकुशल मूल। नारकी जीवों को नरक का दुःख भोगने और तथा शेष अपुरुषार्थी लोगों को सुख-दुःख भोगने से निरन्तर आर्त-रौद्र ध्यानपूर्वक जो कर्मों की निर्जरा होती है वह अकुशल मूल है तथा जो परीषहों को सहन करते हुए कायक्लेश द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है, समताभाव से कर्मों के उदयानुसार शुभाशुभ को भोगना एवं राग-द्वेषरहित निःशल्यभाव से जो सुख-दुःख की निर्जरा है, वह कुशल मूल है। जिस प्रकार पका हुआ फल वृक्ष से नीचे गिरकर पुनः डण्डल में नहीं लगता, उसी प्रकार कुशल मूल निर्जरा द्वारा जो कर्म दूर कर दिये जाते हैं वे पुनः उस व्यक्ति के पास नहीं फटकते, जो ज्ञानाराधना में जागरूक रहता है।

लोक भावना

पुणु लोयाणुरूव थावइ मणु
 चउदहरज्जुमाणें परियरियउ
 रज्जुव सत्त लोउ हेट्टिल्लउ
 पढमहि तीसलक्खनरयायरु
 मज्झिमलोउ रज्जुपरिखंडिउ

सुद्धायासें परिट्टिउ तिहुयणु।
 तिहिं मि समीरण वलयहिं धरियउ।
 पुढविउ सत्त जि दुहहिं गरिल्लउ।
 रयणप्पहहे आउ जहिं सायरु॥11.10॥
 दीवसमुद्धहिं सयलु वि मंडिउ।

जोयणलक्खु मेरु मज्झंकिउ
चउदिसु वेढिउ वलयायारें
हिमवंताइँ तत्थ पव्वय छह
भरहेरावएसु उवसप्पिणि
इय दीवाउ खेत्तकमु विउणउ

जंबूदीउ मज्झें दीवहँ ठिउ।
लवणणणवेंण विउणवित्थारें।
गंगापमुहउ नइउ चउदह।
विहि मि पवत्तइ तह अवसप्पिणि।
धाइयखंडे पुक्खरद्धय तउ।

घत्ता- अइढाइयदीवइँ धरेवि मणुसोत्तरगिरि जाम नरालउ।

पुक्खरद्ध धुरि परइ पुणु तिरिय-देव-संचारु विसालउ ॥11.11॥

घत्ता- एक्करज्जु लोयग्गु थिउ विवरियछत्तायारु सुहावइ।

दंसण-नाण-चरित्तणु अमलकलंकु सिद्ध तं पावइ ॥11.12॥

अब वे महामुनि लोक भावना का चिन्तन करते हैं। यह त्रिभुवन शुद्ध आकाश में परिस्थित है। तीनों लोक वातवलय के द्वारा धारण किया हुआ है। अधोलोक सात राजू प्रमाण है जिसमें अत्यन्त दुःखदायक सात पृथ्वियाँ हैं और जहाँ सागरों-पर्यन्त दुःख सहन करते हुए जीव को रहना पड़ता है।

मध्यमलोक एक राजू प्रमाण है और वह द्वीप तथा समुद्रों से शोभायमान है। मध्य में एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप में हिमवतादि छः पर्वत हैं; गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियाँ हैं; भरत, ऐरावत आदि सात क्षेत्र हैं; भरत, ऐरावत में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का परिवर्तन होता रहता है। लवणोदधि के चारों ओर वलयाकार धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध हैं। इन ढाई द्वीप में मनुष्यों का निवास है। इसके आगे तिर्यच और देवों का विशाल संचार क्षेत्र है। मध्यलोक से ऊपर पाँच राजूप्रमाण, मुरज के आकार से सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तर विमान हैं। सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्धि है। इनमें देवों का निवास है। सबसे ऊपर एक राजूप्रमाण सिद्ध लोक है। यह खुले हुए छाते के आकार का है। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी शरीर को धारण करनेवाला कर्ममलरहित निष्कलंक सिद्ध पुरुष उसे प्राप्त कर सकता है।

बोधिदुर्लभ भावना

पुणु वि मुणिंदु कम्म निक्कंतइ

बालुयसायरम्मि ठिय भावइ

इय संसारि जोणिसंकिण्णइ

वियल्लिदियबाहुल्लु वियंभइ

तहिँ मि सिंगि-पसु-पक्खि बहुत्तणु कह व पमाए लहए नरत्तणु।

बोहिमहागुणु रयणु वि चित्तइ।

हीरयकणिय कवणु किर पावइ।

थावरजंगमजीवपवण्णइ।

पंचेंदियतणु दुक्खहिँ लब्भइ।

लद्धए माणुसत्ते सुकुलक्कमु संपुण्णिंदियत्तु सुइसंगमु।
 सव्वु वि दुल्लह लहेवि वियक्खणु धम्मु न पावइ जइ दसलक्खणु।
 तो निरत्थु जम्मु विं संपत्तउ वयणु व विमलु चक्खुपरिचत्तउ।
 धम्मु वि लहेवि जो न तं पालइ छारनिमित्तु घुसिणु सो जलाइ॥11.13॥

फिर वे मुनि कर्मों को काटते हुए बोधिरूपी महान् गुणकारी रत्न बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा का चिन्तन करते हैं- रेत के सागर में पड़ी हुई हीरे की कणी को कौन प्राप्त कर सकता है? इसी प्रकार नाना योनियों से संकीर्ण तथा स्थावर-जंगम जीवों से भरे हुए इस संसार में विकलोन्द्रिय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय-वाले) जीवों का बाहुल्य है। पंचेन्द्रिय शरीर बड़ी कठिनाई से मिलता है। वहाँ भी सीगोंवाले तथा अन्य पशु-पक्षी ही अधिक संख्या में है। मनुष्य-जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। मनुष्यत्व मिलने पर भी उच्च कुल की प्राप्ति, इन्द्रियों की पूर्णता तथा शास्त्रों का समागम मिलना दुर्लभ है। इन सब दुर्लभ वस्तुओं को पाकर भी यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति दशलक्षण धर्म को नहीं प्राप्त कर सके तो उसका जन्म उसी प्रकार निरर्थक हो जाता है जैसे चक्षुरहित सुन्दर मुख। धर्म को पाकर भी जो उसका पालन नहीं करता, वह मानो राख के लिए बहुमूल्य केशर को जलाता है अर्थात् सांसारिक क्षणिक सुख के लिए दुर्लभ मनुष्य-जन्म को गँवाता है।

धर्म भावना

पुणु वि पुणु वि परिभावइ मुणिवरु दसविहधम्महँ आवज्जणपरु।
 कयदोसेसु रोसु वंचिज्जइ उत्तमखमइ धम्मु मंडिज्जइ।
 जाइमयाइमाणपरिहरणउ मद्दववित्ति धम्मआहरणउ।
 कायवायमण जोउ अवक्कउ अज्जवभावे धम्मु तहिँ थक्कउ।
 पत्तपरिग्गहलोहु चयंतहो सउचायारपरहो धम्मु वि तहो।
 सप्पुरिसेसु साहुसंभासणु सच्चु वि धम्मु अहम्मविणासणु।
 दुद्दमइंदियागिद्धिनिरोहणु संजमु नामु धम्मु मणरोहणु।
 कम्मक्खयनिमित्तु निरवेक्खउ तउ चिज्जंतु करइ पावक्खउ।
 सीलविहूसियाण जं दिज्जइ जोग्गु दाणु तं चाउ भणिज्जइ।
 एहु महारउ इय मइ मुच्चइ परिवज्जियकिंचित्तु पवुच्चइ।
 नवविह-बंधचेरु जो रक्खइ चडेवि धम्मि सिववहुय कडक्खइ॥11.14॥
 दशविध धर्म के अभ्यास में तत्पर वह श्रेष्ठ यति पुनः पुनः चिन्तन करने लगा-

दोष (अपराध) करनेवालों के प्रति रोष का त्याग करना चाहिए। उत्तम क्षमा से धर्म को अलंकृत करना चाहिए। जातिमद आदि मान का अपहरण करनेवाली मार्दववृत्ति धर्मका आभूषण है। काय, वाक् और मन का अवक्र (निष्कपट, सरल) योग आर्जवभाव में ही होता है और उसी में धर्म स्थित रहता है। पात्र आदि परिग्रह के प्रति लोभ त्यागनेवाले तथा शुद्धाचारपरायण व्यक्ति का ही शौच धर्म सच्चा होता है। सत्पुरुषों के साथ साधु-संभाषण ही सत्यधर्म है जो अधर्म का विनाश करनेवाला है। दुर्दम इन्द्रिय-लोलुपता का निरोध करना यह संयम नाम का धर्म है जो मन का निग्रह करनेवाला है। कर्मक्षय के निमित्त निरपेक्ष (निष्काम) भाव से तप का संचय करनेवाला व्यक्ति ही पापों का क्षय करता है। शील से विभूषित व्यक्तियों को जो योग्य दान दिया जाता है उसे त्यागधर्म कहा जाता है। 'यह मेरा है' इस मति को छोड़ देना परिवर्जित-किंचित्व अर्थात् आकिंचन्य धर्म कहलाता है। जो नव-विध ब्रह्मचर्य रक्षण करता है, वह धर्म (रूपी पर्वत के शिखर) पर चढ़कर मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करता है।

अणुवेक्खाउ एम भावंतहो

निम्मलझाणे चित्तु थावंतहो।

देहभिन्नु अप्पाणु गणंतहो

निरवहि-सासयसोक्खु मुणंतहो।

पत्तपरीसहदुहअवसायहो

विज्जुच्चरहो विमुक्ककसायहो।

इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं की भावना करते हुए निर्मल धर्म-ध्यान में अपने चित्त को स्थापित करते हुए, अपनी आत्मा को देह से भिन्न मानते हुए निःसीम शाश्वत सुख मोक्ष को समझते हुए उसी का ध्यान करते हुए अन्त में वे महामुनि घोर उपसर्ग को समतापूर्वक सहन करते हुए उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन तथा उत्तम ब्रह्मचर्यरूप दश धर्म की आराधनापूर्वक कर्मों की निर्जरा करते हुए समाधिमरणपूर्वक संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख के धाम सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

1. पण्डित दौलतराम, छहढाला 5.1

2. वीर कवि, जंबूसामिचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संपा.- डॉ. विमलप्रकाश जैन

‘अलका’

35, इमामबाड़ा

मुजफ्फरनगर - 257 002

कहिं मि गिरिकडणि

कहिं मि गिरिकडणि गज्जंतकरिकाणणा कुद्धपंचाणणा।	
कहिं मि हयदंडवग्धेहिं गुंजारिया	गवय विहारिया।
कहिं मि घुरुहुरियकोलउलददुक्खया	कंदया सुक्खया।
कहिं मि हुंकरियादिढमहिससिंगाहया	रुक्ख भूमिं गया।
कहिं मि मेल्लंतु वुक्कार दीहरसरा	धाविया वाणरा।
कहिं मि घुग्घुइयघूयडसया रोसिया	वायसा वासिया।
कहिं मि भल्लुक्किफेक्कारहक्कारिया	जंबुया धारिया।
कहिं मि पज्झरियखलखलियजलवाहला	कसणतणुनाहला।
कहिं मि महिपडियतरुपणसंछन्नया	संठिया पन्नया।
कहिं मि फणिमुक्कफुक्कारविससामला	जलिय दावानला।

- महाकवि वीर

जंबूसामिचरिउ, 5.8.14-23

कहीं पर्वतमेखला पर हाथी व क्रुद्ध सिंह गर्जन कर रहे थे। कहीं दण्ड (शस्त्र) से आहत व्याघ्रों (को चिंघाड़) से वह अटवी गुंजारित हो रही थी और कहीं नील गाय विदीर्ण कर डाली गई थी। कहीं घुरघुराते हुए बनैले सूअरों के दाढ़ों से उखाड़े हुए कंद सूख रहे थे। कहीं हुंकार करते हुए बलवान् महिषोंके सींगों से आहत हुए वृक्ष गिर गए थे। कहीं दीर्घ-स्वर से बुक्कार छोड़ते हुए वानर दौड़ रहे थे। कहीं घूग्घू-घूग्घू करते हुए सैंकड़ों घूयडों के स्वर से रुष्ट हुए वायस काँव-काँव कर रहे थे। कहीं शृगालियों के फेत्कार से आह्वान किये गए जंबूक पकड़े जा रहे थे। कहीं खल-खल करके झरते हुए जल के छोटे-छोटे प्रवाह थे और कहीं काले शरीरवाले म्लेच्छ थे। कहीं पृथ्वी पर गिरे हुए पत्तों से ढके हुए सर्प पड़े थे और कहीं नागों के छोड़े हुए फूत्कारों से विष के समान श्याम वर्ण के दावानल जल रहे थे।

अनु.- डॉ. विमलप्रकाश जैन

कविकोकिल विद्यापति और उनकी कीर्तिलता

- डॉ. सकलदेव शर्मा



मिथिलांचल के महाकवियों ने अपभ्रंश को 'अवहट्ट' की संज्ञा दी है। पहलीबार 'अवहट्ट' का प्रयोग हमें महाकवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर (1250-1340 ईसवी), हरिसिंहदेव के राजकवि के 'वर्णरत्नाकर' (1325 ईसवी) में देखने को मिलता है। भाषात्रयी में संस्कृत, प्राकृत के बाद निर्विवाद रूप से 'अवहट्ट' का नाम आता है। पैशाची, शौरसेनी और मागधी 'अवहट्ट' के बाद स्थान पानेवाली भाषाएँ हैं। दूसरीबार 'अवहट्ट' का सबसे समर्थ और गौरवपूर्ण प्रयोग कविकोकिल महामहोपाध्याय विद्यापति (1380-1460 ईसवी) 'कीर्तिलता' में करते हैं। कीर्तिलता उनकी प्रारम्भिक रचना है जिसका प्रणयन काल 1402-1404 ईसवी के आसपास या उसके तुरन्त बाद माना जाता है। इसी समय सुलतान इब्राहीम शाह की सैन्य-सहायता से कीर्तिसिंह मिथिलाधिपति के रूप में सिंहासनारूढ़ होते हैं।

विद्यापति का जन्म दरभंगा जिला के 'बिस्फी' (सम्प्रति 'बिस्फी' मधुबनी जिला का एक खण्ड है) नामक गाँव में एक विद्यानुरागी मैथिल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता गणपति ठाकुर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे मिथिला-नरेश गणेश्वरसिंह के सभासद और राजकवि थे। अतः बाल्यकाल में विद्यापति अपने पिता के साथ कई बार राज-दरबार में भी गये थे। राजा गणेश्वरसिंह के पुत्र और विद्यापति के आश्रयदाता

कीर्तिसिंह वय में उनसे 2-3 वर्ष बड़े थे। विद्यापति ने साहित्यशास्त्र, कामशास्त्र और दण्डशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया था। वे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या, समय-विद्या और राज्य सिद्धान्तत्रयी के विशेषज्ञ थे। माँ भगवती, भगवान शंकर और गंगा के वे अनन्य उपासक थे। 'उगना' के रूप में, कहते हैं, स्वयं भगवान शिव अहर्निश उनकी सेवा में लगे रहते थे। मृत्यु के समय उनकी पुकार पर गंगा उनके पास चली आई थी।

संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट के साथ ही विद्यापति मैथिली के भी विलक्षण कवि और पण्डित थे। अपनी भाषा की शक्ति और सामर्थ्य के विषय में वे इतने आश्वस्त हैं कि विश्वास-दीप्त वाणी में कहते हैं-

बालचन्द्र विज्जावड़ भासा ।

दुहु नहीं लग्गड़ दुज्जन हासा ॥

ओ परमेसर सेहर सोहड़ ।

ई णिच्चड़ नाअर मन मोहड़ ॥'

अर्थात् बालचन्द्र और विद्यापति इन दोनों की भाषा को दुष्टों, दुर्जनों की हँसी नहीं लगती। बालचन्द्र भगवान शंकर के माथे पर शोभायमान होता है और विद्यापति की भाषा नगरजनों के मन को मोहित करती है। भाषा सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते हुए ये आगे कहते हैं-

सक्कय वाणी बहुअन भावड़ ।

पाउँअ रस को मम्म न पावड़ ॥

देसिल वअना सब जन मिट्टा ।

तं तैसन जम्पजो अवहट्टा ॥1.33-36 ॥

अर्थात् संस्कृत केवल विद्वानों को अच्छी लगती है और प्राकृत में रस का मर्म नहीं होता। देशी भाषा सबको अच्छी लगती है इसीलिये वे उसी प्रकार का 'अवहट्ट' कहते हैं।

कहना नहीं होगा कि कवि-कोकिल विद्यापति और उनकी कीर्तिलता दोनों परवर्ती अपभ्रंश की अत्यन्त मूल्यवान धरोहर हैं। अतः उन्हें यदि हम परवर्ती अपभ्रंश का 'महाकवि स्वयंभू' कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भाषा-साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान की दृष्टि से आज भी गद्य-पद्य से संवलित इस ऐतिहासिक कथा-काव्यकृति का अप्रतिम महत्त्व है। विस्मयकारिणी प्रतिभा के बल पर कवि-

कोकिल ने इसमें मध्यकालीन भारतीय समाज और उसकी तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों को अपनी सीमा और समग्रता में रूपायित कर दिया है। 'कीर्तिलता' के प्रणयन का प्रमुख प्रयोजन संग्राम में शत्रुओं का दर्प दलन करनेवाले अपने आश्रयदाता नरेश कीर्तिसिंह के कुमुद-कुन्द-चन्द्रमा की तरह समुज्ज्वल यश को काल-कपाल पर चिरकाल के लिए अंकित कर देना है। कीर्तिसिंह काव्य के श्रोता, प्रणेता, रस-ज्ञाता और दान के द्वारा दारिद्र्य का दलन करनेवाले दुर्लभ कोटि के दाता हैं। अपने को कीर्तिसिंह का 'खेलन कवि' कहनेवाले कवि विद्यापति अक्षर के खम्भे गाड़कर यदि उस पर मंच न बना दें तो त्रिभुवन-क्षेत्र में उनकी कीर्तिलता भला किस तरह फैलेगी-

तिहुअन खेत्तहिं काजि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ।

अक्खर खंभारंभ जउ मञ्चो वन्धि न देइ॥1.15-16॥

'कीर्तिलता' की ऐतिहासिक कथा चार पल्लवों/अध्यायों में वर्णित है। मंगलाचरण में कवि ने क्रमशः पार्वती, पशुपति और सरस्वती की अत्यन्त सुन्दर समवेत वन्दना की है। यथा-

'पिताजी, मुझे स्वर्गगा का मृणाल ला दीजिये,

पुत्र! यह मृणाल नहीं, सर्पराज है!'

यह सुनकर गणेश रोने लगे और शम्भु के मुँह पर हँसी छागयी। यह देखकर पर्वतराज कन्या पार्वती को बड़ा कौतूहल हुआ। वह कौतूहल तुम्हारी रक्षा करे।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि अज्ञान-तिमिर के विनाशक भगवान शिव के तीन प्रकाशपूर्ण नेत्र हैं। अतः कवि उनके कमलचरणों की वन्दना करता है।

भगवती सरस्वती को कवि-कोकिल सब प्रकार के अर्थबोध के लिए द्वाररूप, जिह्वारूपी रंगस्थली की नर्तकी, तत्त्व को आलोकित करनेवाली दीपशिखा, विदग्धता के लिए विश्राम-स्थल, शृंगारादि रसों की निर्मल लहरियों की मन्दाकिनी और कल्पान्त तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति की प्रिय सखी कहते हैं।

इसके बाद 'भृंगी पुच्छइ भिंग सुन' अर्थात् भृंग-भृंगी संवाद के द्वारा 'कीर्तिलता' की कथा आगे बढ़ती है- 'हे भृंग, संसार में सार क्या है?'

'मानिनी, ऐसे वीर पुरुष का अवतार जिसका जीवन-मान संयुक्त हो।'

'नाथ, यदि कहीं वीर पुरुष जन्मा हो तो उसका नाम क्यों नहीं लेते? यदि सोत्साह कहो तो मैं भी सुनकर तृप्त होऊँ!'

इस तरह 'कीर्तिलता' की सम्पूर्ण कथा कवि-कोकिल भृंग-भृंगी के प्रश्नोत्तर

द्वारा अत्यन्त विमोहक शैली में अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रथम पल्लव में कीर्तिसिंह और उनके पूर्व-पुरुषों की संक्षिप्त कथा के बाद कवि कामना करता है कि कीर्तिसिंह की कीर्ति-कामिनी चन्द्रकला की तरह विजय प्राप्त करें-

कीर्ति सिंह नृप कीर्ति कामिनी

यामिनीश्वर कला जिगीषतु ॥1.105-6॥

द्वितीय पल्लव में भृंगी पुनः पूछती है कि शत्रुता कैसे उत्पन्न हुई और उन्होंने कैसे प्रतिशोध लिया? हे प्रिय, आप यह कहानी कहेँ मैं सुखपूर्वक सुनूँगी-

किमि उँप्पनउँ बैरिपण किमि उद्धरिअउँ तेण ।

पुण्ण कहाणी पिअ कहहु सामिज सुनओ सुहेन ॥2.2-3॥

मिथिला-नरेश गणेश्वरसिंह से पराजित होने के बाद राज्यलोभी मलिक असलान नामक सुलतान उनके साथ पहले मैत्री, फिर विश्वासघात करता है और धोखे से उन्हें मार डालता है। राजा के मरते ही राज्य में अव्यवस्था फैल जाती है। ठाकुर ठग बन जाते हैं और चोर जबरन घरों पर कब्जा कर लेते हैं। दुष्ट सज्जनों को पराभूत कर देते हैं। न्याय-विचार करनेवाला कोई रह नहीं जाता। जाति-कुजाति में शादियाँ होने लगती हैं। काव्य-मर्मज्ञों और कद्रदानों के अभाव में कवियों की स्थिति भिखारियों जैसी हो जाती है। कविकोकिल के शब्दों में राजा गणेश्वर के स्वर्ग जाने पर तिरहुत² के सभी गुण तिरोहित हो जाते हैं-

अक्खर वुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारि भउँ ।

तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ ॥2.14-15॥

बाद में कोप-शमन होने पर मलिक असलान को हार्दिक क्लेश और पश्चात्ताप होता है। मंत्री, मित्र, माता और गुरुजनों के समझाने के बाद भी कीर्ति उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। उसे केवल वीर पुरुषों की रीति प्यारी है। मानहीन भोजन करना, शत्रु-समर्पित राज्य लेना और शरणागत होकर जीना, ये तीनों उसकी दृष्टि में कायरों के कार्य हैं। पिता के वैर का बदला लेने और अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग रहने का संकल्प लेकर वह सहोदर भाई वीरसिंह से मंत्रणा करता है और प्रतापी बादशाह इब्राहीम शाह से मिलने जौनपुर के लिए चल देता है।

कविकोकिल विद्यापति कीर्तिसिंह के नगर-प्रस्थान, मार्ग-संचरण, नगर-प्रवेश, बाजार, वेश्या-गृह, राज-दरबार, सैन्य अभियान और तुर्कों के रहन-सहन, सामाजिक, मानसिक और चारित्रिक विशेषताओं का अत्यन्त सूक्ष्मतम, चित्ताकर्षक और चरम यथार्थवादी चित्रण करते हैं। 'कीर्तिलता' से गुजरते हुए यह स्पष्ट परिलक्षित और प्रमाणित

होता है कि विद्यापति न केवल भक्ति और शृंगार के अनुपम चितरे हैं वरन् प्रथम श्रेणी के किसी भी अधुनातन यथार्थवादी कथाकार से ज्यादा ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। मैं अत्यन्त विश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि सूक्ष्म यथार्थ चित्रण की दृष्टि से सम्पूर्ण 'कीर्तिलता' अद्भुत है-

'....अहो, अहो, आश्चर्य। वहाँ प्रमुख द्वार की ड्योढ़ी में नंगी तलवारें लिये द्वारपाल खड़े थे।.... शाही महल का लम्बा-चौड़ा मैदान, दरगाह, दरबारे आम, नमाज-गृह, भोजन-गृह और शयन-गृह के विचित्र चमत्कार देखते हुए सभी कहते कि बहुत अच्छा है। प्रासादों के ऊपर हीरों से जटित सुनहले कलश सुशोभित हो रहे थे।'

तीसरे पल्लव में भृंगी कहती है- हे कान्त, तुम्हारे कहने से कान में अमृत रस का प्रवेश हो गया, अतः हे विचक्षण फिर कहो! अगला वृत्तान्त शुरू करो-

कहहु विअष्वखण पुनु कहहु किमि अगिम वित्तन्त।

आगे इसमें जौनपुर के वजीर और बादशाह इब्राहीम से कीर्तिसिंह के मिलने की कथा कही गयी है। असलान के कुकृत्य को सुनकर बादशाह कुपित होते हैं और तिरहुत-प्रयाण का आदेश देते हैं, जिससे कीर्तिसिंह व उसका भाई बहुत प्रसन्न होते हैं। बाद में पूर्व के लिए सजी सेना का पश्चिम पयान हो जाता है और कीर्तिसिंह दुःखी हो जाते हैं। उनके मनोबल को बढ़ाता हुआ मंत्री कहता है- 'गुणियों को इस तरह के दुःख की परवाह नहीं करनी चाहिए।'

इस तीसरे पल्लव में सुलतान के सैन्य प्रयाण, प्रजा के कष्टों और अन्त में दोनों भाइयों के दुःख-द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व का अत्यन्त यथार्थ और मर्यान्तक चित्रण किया गया है, यथा-

'....ब्रान के लिए सोने का टका दीजिये। ईधन चन्दन के भाव बिकता। बहुत पैसा देने पर थोड़ा अन्न मिलता; घी के लिए घोड़ा देना पड़ता। बाँदी और बैल महँगे दामों में मिलते।....(3.97-102)'

'....दोनों भाई द्वीप-दिगन्तर में घूमते रहे। तुर्कों के साथ चलते समय बड़े कष्ट से अपने आचार की रक्षा की। राह के लिए पाथेय समाप्त हो जाने के कारण शरीर कृश हो गया। वस्त्र पुराने हो गये। यवन स्वभाव से ही निष्करुण होते हैं। सुलतान ने स्मरण भी नहीं किया।....(3.104-107)'

अन्ततोगत्वा, दोनों भाई पुनः सुलतान से मिलते हैं जिससे अच्छा समय लौट आता है। सुलतान के आदेश से सेना तिरहुत की ओर चल पड़ती है। कीर्तिसिंह रण के उत्साह से भर उठते हैं।

चतुर्थ पल्लव के प्रारम्भ में पुनः भृंगी पूछती है-

कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता किमि परिसेना सञ्चरिआ।

किमि तिरहुत्ती हुअउँ पवित्ती अरु असलान किक्करिआ॥4.1-2॥

अर्थात् कहो कान्त, कहो, सच कहो! सेना किस प्रकार चली? तिरहुत में क्या हुआ और असलान ने क्या किया? कविकोकिल विद्यापति इस चतुर्थ पल्लव में इब्राहीम शाह हस्ती, अश्व, पदातिक यानी विशाल चतुरंगिनी सेना और उसके तिरहुत को देखकर ऐसा लगता है मानो विधाता ने उन्हें विन्ध्याचल से छाँटकर निकाला है। गमन में पवन को पीछे छोड़नेवाले और वेग में मन को जीतनेवाले सिन्धु नदी के पार उत्पन्न होनेवाले त्वरा और मन्यु से भरे हुए तेजवन्त तरुण घोड़े मानो सूर्य के रथ से छुड़ाकर लाये गये हैं। मतवाले मंगोल किसी का बोल नहीं समझते और अपने स्वामी के लिए रण में प्राणपण से जूझ जाते। सैनिक कच्चा मांस खाते। मदिरापान से उनकी आँखें लाल हो जातीं। आधे दिन में वे बीस योजन दौड़ जाते। बगल में रखी रोटी पर दिन काट देते। गौ-ब्राह्मण की हत्या में वे कोई दोष नहीं देखते और शत्रु-नगर की नारियों को बन्दी बनाकर ले आते। वे देखने में जंगलियों जैसे लगते। गोरू मार बिसमिल्ला कर खा जाते। वे जिस दिशा में धावा मारते उस दिशा में राजाओं के घर की स्त्रियाँ बाजारों में बिकने लगतीं। हाथ में कुन्त, भाला लिये गाँव-नगर जलाते चलते। औरतों को छोड़ बच्चों को मारते और निर्दयतापूर्वक मनमाना लूटपाट मचाते। लूट से अर्जन होता और उसी से उनका पेट चलता। इस तरह द्वीप-द्वीपान्तर के राजाओं की निद्राहरण करते, सैन्य-दलों को चूर्ण करते, पहाड़ों-गुफाओं को ढूँढ़ते, शिकार, तीरन्दाजी, वनविहार, जलक्रीड़ा, मधुपान और रत्योत्सव की रीतियों का पालन करते हुए सुलतान इब्राहीम शाह तिरहुत की सीमा में प्रवेश कर तख्त पर बैठते हैं। फिर दोनों पक्ष का हालचाल जानकर तत्क्षण फरमान जारी करते हैं कि- असलान काफी समर्थ है। अतः उसे किस प्रकार गिरफ्तार किया जाए?

इस पर कीर्ति सिंह कहते हैं कि- 'मैं उसे पलान कसे घोड़े से ठेलकर गिरफ्तार कर लाऊँगा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसकी रक्षा में क्यों न आजायें, आज मैं उसकी हत्याकर उसके रुधिर से पिता के चरणों में तिलांजलि दूँगा।' तदन्तर कीर्तिसिंह का मनोरथ पूर्ण करने के लिए सुलतान अपनी समस्त सेना को नदी पार करने का आदेश देते हैं और स्वयं भी घोड़े पर तैरकर गण्डक नदी पार करते हैं। राजधानी के पूरब मध्याह्न वेला में उभय सेना के मध्य भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कवि के शब्दों में कीर्तिसिंह ने ऐसा युद्ध किया कि मेदिनी शोणित में मज्जित हो गयी-

जहि जहि संघल सत्तु घल तँहि तँहि पल तरवारि।

सोणित मज्जिअ मेइणी कित्तिसिंह कतु मारि॥4.190-91॥

अन्त में, मलिक असलान स्वयं आकर कीर्तिसिंह से लड़ने लगता है पर तुरन्त ही पीठ दिखाकर भागने लगता है। भागते असलान से कीर्तिसिंह कहते हैं- जिस हाथ से तूने मेरे पिता को मारा, वह हाथ अब क्या हो गया? यदि तू भागकर जीना चाहता है तो जा भाग, तुझे जीवनदान देने से मेरी कीर्ति त्रिभुवन में बनी रहेगी-

जइ कं जीवसि जीव गए जाहि जाहि असलान।

तिहुअण जग्गइ कित्ति मज्जु तुज्ज दिअउ जिवदान॥4.247-48॥

इस प्रकार, कीर्तिसिंह युद्ध में विजयी होकर लौटते हैं। वेद-मंत्रों के बीच शुभ मुहूर्त में उनका राज्याभिषेक होता है। बन्धु-बान्धवों में उल्लास और उत्साह तरंगित हो उठता है। तिरहुत की विलुप्त श्रीशोभा और गरिमा पुनः लौट आती है। बादशाह इब्राहीम शाह तिलक लगाते हैं और कीर्तिसिंह मिथिलेश बन जाते हैं।

कविकोकिल कृत 'कीर्तिलता' की कीर्ति-कथा का यहाँ सुखान्त समापन होने के बाद भी उसकी मणिमण्डित सूक्तियाँ पाठकों के मन-मस्तिष्क और अन्तस्तल में उत्कीर्ण होकर झिलमिलाती रहती हैं। यहाँ कुछ ऐसी ही अविस्मरणीय सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

अवसओ विसहर विस वमइ, अमिअँ विमुंचइ चंद॥1.20।

- विषधर निश्चय ही विष उगलता है, चन्द्रमा अमृतवर्षण करता है।

पुरिसत्तणेन पुरिसो णहु, पुरिसो जम्मत्तेण॥1.46।

इअरो पुरिसाआरो, पुछ विहूणो पसू होइ॥1.49।

- पुरुष वह जिसका सम्मान हो, जो अर्जन की शक्तिवाला हो। इतर पुरुषा-कार लोग पुच्छहीन पशु की तरह हैं।

जलदाणेन हु जलदो, नइ जलदो पुंजिओ धूमो॥1.47।

- जलदान से जलद जलद है, धूम का पुंज जलद नहीं है।

मान विहूना भोअना, सत्तुक देअेल राज॥2.35।

सरण पइट्टे जीअना, तीनू काअर काज॥2.36।

- मानहीन भोजन करना, शत्रु का दिया हुआ राज्य लेना और शरणागत होकर जीना- ये तीनों कार्यों के कार्य हैं।

अवसओ उहम लच्छि बस, अवसओ साहस सिद्धि॥2.75।

पुरुस विअखखण जं चलइ तं तं मिलइ समिद्धि॥2.76।

- लक्ष्मी निश्चय ही उद्योग में बसती है, अवश्य ही साहस के कार्य में सिद्धि मिलती है। विलक्षण पुरुष जहाँ जाता है, वहीं उसे समृद्धि की प्राप्ति होती है।

वे भूपाला मेड़नी वेण्डा एक्का नारि।3.25।

सहहि न पारइ वेवि भर अवस करावए मारि।3.26।

- दो राजाओं की एक पृथ्वी और दो पुरुषों की एक नारी, दोनों का भार नहीं सह सकती, अवश्य युद्ध कराती हैं।

तावै जीवन नेह रह जाव न लग्गइ मान।3.153।

- जीवन में तभी तक स्नेह रहता है जब तक पारस्परिक सम्बन्धों में मान का प्रवेश नहीं होता।

जइ साहसहु न सिद्धि हो, झंष करिव्वउं काह।3.56।

होज होसइ एवक पइ वीर पुरिस उच्छाह।3.57।

- साहस करने से भी यदि सिद्धि नहीं मिलती है, तो झंखने से क्या होता है? जो होना है होगा, पर, वीर पुरुष के लिए एक उत्साह रह जाता है।

विपइ न आवइ तासु घर जसु अनुरत्ते लोक।3.146।

- उसके घर विपत्ति नहीं आती जिससे लोग अनुराग रखते हैं। आदि, आदि।

‘कीर्तिलता’ की कथा-समापन के बाद अपने अन्तिम संस्कृत श्लोक में कवि-कोकिल कामना करते हुए कहते हैं- इस प्रकार संग्राम-भूमि में साहसपूर्वक शत्रु-मंथन करने से उदित हुई लक्ष्मी को राजा कीर्तिसिंह चन्द्रमा और सूर्य के रहने तक परिपुष्ट करें और जब तक यह संसार है कवि विद्यापति की यह कविता जो माधुर्य की प्रसवस्थली और श्रेष्ठ यश के विस्तार की शिक्षा देनेवाली सखी है, क्रीड़ा करती रहे-

एवं संगरसाहसप्रथमन प्रालब्धलब्धोदयां।

पुष्णाति श्रियमाशशांकतरणीं श्री कीर्तिसिंहो नृपः॥

माधुर्य प्रसवस्थली गुरुयशो विस्तार शिक्षासखी।

यावद्विश्वमिदञ्च खेलतकवेर्विद्यापति भारती॥

कविकोकिल विद्यापति की यह कविता कल भी मिथिलांचल के घर-घर में क्रीड़ा करती थी, आज भी करती है और आगे भी करती रहेगी। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने उनके गीतों को देखकर अपनी पुस्तक ‘एन इण्ट्रोडक्शन टू द मैथिली लैंग्वेज’ (1881-82) में ठीक ही लिखा है- “कृष्ण में विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो

सकता है लेकिन विद्यापति के गीतों के प्रति लोगों की आस्था और श्रद्धा कमी कम न होगी।”³ सच में, विद्यापति ज्ञानपीठ मिथिला के पुरातन कवीन्द्र रवीन्द्र हैं। लोक-भाषा और लोक-आस्था के संरक्षक इस कालत्रयी कविकोकिल की पावन स्मृति को कोटिशः प्रणाम।

1. कीर्तिलता, प्रथम पल्लव 1.10 (23-26), द्वि.सं. 1964, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
2. मिथिला का प्राचीन नाम तिरहुत → सं. तीरभुक्ति था।
3. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, प्रथम संस्करण, सम्वत् 2020, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-1, पृष्ठ-532

- 31/204, बेलवागंज
लहेरियासराय
दरभंगा- 846 001

केरिसी विंज्झाडई

पुणु केरिसी विंज्झाडई-

भारहरणभूमि व सरहभीस

गुरु-आसत्थाम-कलिगचार

लंकानयरी व सरावणीय

सपलास-संकचण-अक्खथड्ड

कंचाडणि व्व ठिय कसणकाय

तिणयणतणु व्व दारुवणछंद

घत्ता- वोलवि वणु परिसक्कइ कहिं मि न थक्कइ जहिं छइल्लु जणु निवसइ।

गरुयारंभुच्छाहिउ मगहनराहिउ विंज्झाएसु तं पइसइ॥

गयगज्जिर-ससर-महीससार।

चंदणहिं चार कलहावणीय।

सविहीसण-कइकुलफलरसइड्ड।

सद्दूलविहारिणि-मुक्कनाय।

गि रिसुय-जड-कंदल-खंडयंद।

- महाकवि वीर, जंबूसामिचरिउ, 5.8.30-38

और फिर वह विंध्याटवी कैसी थी? - वह (महा) भारत रणभूमि के समान भयंकर थी; भारत रणभूमि चीत्कार करते हुए रथों से भयानक थी, अटवी शरभों (अष्टापदों) से; अटवी में सिंह, अर्जुन वृक्ष, नेवले और मयूर थे; भारत रणभूमि गुरु (द्रोणाचार्य), अश्वत्थामा और कलिगराज के संचरण (परिभ्रमण) से युक्त थी, अटवी बड़े-बड़े पीपल के वृक्षों, हरी-हरी लताओं एवं चार (चिरौजी) वृक्षों से; भारत रणभूमि गजों के गर्जन तथा बाणधारी राजाओं से समृद्ध थी और अटवी गजों के गर्जन, सरोवर तथा महिषों से। और भी- वह अटवी लंकानगरी के समान थी, लंकानगरी रावण से सनाथ थी और चन्द्रनखा के आचरण के कारण वहाँ कलह हुआ था और विंध्याटवी रावण (फलविशेष) वृक्षों, चन्दनवृक्षों, चारवृक्षों एवं कलभों (बालहस्तियों) से युक्त थी। लंकानगरी पलाश (राक्षस), काँचन (सुवर्ण) और अक्ष (रावणका पुत्र) सहित होने से गर्विष्ठ थी एवं विभीषण तथा रसिक कवियों से परिपूर्ण थी; विंध्याटवी पलाश, कंचन (मदनवृक्ष), चक्षु-विभीतक (बहेडा) के वृक्षों से गर्विष्ठ तथा नाना प्रकार की विभीषिकाओं एवं वानरों व खूप रसभरे फलों से समृद्ध थी। वह अटवी कात्यायनी (चामुण्डा) के समान थी; कात्यायनी कृष्णशरीरवाली है तथा शार्दूल (शरभ) पर विहार करती हुई फेत्कार छोड़ती रहती है, विंध्याटवी काले कौओं, शरभों के विहार व नाना वन्यपशुओंके नाद से युक्त थी। वह अटवी महादेव के समान थी, महादेव ने गौरी के अभिप्राय (छन्द) से नाना प्रकार का रौद्र नृत्य किया तथा वे गिरिसुता (पार्वती), जटाओं एवं कपालपर खण्डचन्द्र (चन्द्रकला) से युक्त है और विंध्याटवी दारुवनों से आच्छादित थी एवं पर्वतों, शुकों, नानाप्रकार की मूलों, विशेष अंकुरों एवं खण्डकन्दों (कन्दविशेष) से युक्त थी। वन को लांघकर, राजा आगे बढ़ गया, कहीं भी रुका नहीं। इस प्रकार मगधाधिपने बड़े-आरम्भ (कार्य) के उत्साह से उस विंध्यप्रदेश में प्रवेश किया जहाँ छैले लोग (विदग्ध-जन, ज्ञानीपुरुष) रहते थे।

- अनु.- डॉ. विमलप्रकाश जैन

अपभ्रंश साहित्य में सूक्तियाँ

- श्रीमती स्नेहलता जैन



छठी शती ईसवी से चौदहवीं शती ईसवी तक अपभ्रंश भाषा में अनेक गौरवपूर्ण ग्रन्थ रचे गये जिसके कारण भारतीय संस्कृति के गौरव की अक्षुण्णनिधि अपभ्रंश साहित्य में सुरक्षित है।

योगिन्दुदेव एवं महाकवि स्वयंभू के हाथों अपभ्रंश साहित्य का बीजारोपण हुआ। पुष्पदन्त, धनपाल, रामसिंह, देवसेन, हेमचन्द्र, सरह, कण्ह और वीर जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अन्तिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रङ्ग जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का सम्बल प्राप्त हुआ। इन शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी कवियों का आश्रय पाकर यह साहित्य अल्पकाल में ही पूर्ण यौवन के उत्कर्ष पर पहुँच गया। अभिव्यक्ति की नयी शैलियों से समन्वित कर इन्होंने इसे इस योग्य बना दिया कि वह पूरे युग की मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो सका।

अपभ्रंश साहित्य का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय काव्यरूप चरिउकाव्य है। अपभ्रंश में इस काव्यरूप में अनेक चरिउकाव्य मिलते हैं जैसे- पउमचरिउ, रिङ्गणेमिचरिउ, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, जम्बूसामिचरिउ, सुंदसणचरिउ, करकण्डचरिउ, पउमसिरिचरिउ, पासणाहचरिउ, सुकुमालचरिउ आदि-आदि। ये सभी चरिउकाव्य अपने काल के ज्ञानकोश तथा भारतीय इतिहास और संस्कृति के आकर ग्रन्थ हैं। वैसे देखा

जाये तो इनमें भारत के सन्दर्भ में समूची मानवीय चेतना और संस्कृति का जीवन्त चित्र है तथा इस चित्र को गागर में सागर भरने-रूप प्रतिबिम्बित करने हेतु अनेक सूक्तियों का प्रयोग भी अनायास ही हो गया है। उक्त चरिउ-काव्यों में से चयनित कुछ सूक्तियाँ इस प्रकार हैं-

सूक्ति-वाक्य

1. तिह जीवहि जिह परिभमइ किति। पउमचरिउ (1.7.12.1)
- इस प्रकार जीओ जिससे कीर्ति फैले।
2. तिह हसु जिह ण हसिज्जइ जणेण। पउमचरिउ (1.7.12.2)
- इस प्रकार हँसो कि जिससे लोग हँसी न उड़ा सके।
3. तिह भुज्जु जिह ण मुच्चहि धणेण। पउमचरिउ (1.7.12.2)
- इस प्रकार भोग करो कि धन समाप्त न हो।
4. तिह तजु जिह पुणु वि ण होइ संगु। पउमचरिउ (1.7.12.3)
- इस प्रकार त्याग करो कि फिर से संग्रह न हो।
5. तिह चउ वुच्चइ साहु साहु। पउमचरिउ (1.7.12.4)
- इस प्रकार बोलो कि लोग वाह वाह कर उठे।
6. दोस वि गुण हवन्ति संसग्गिए। पउमचरिउ (2.29.3.7)
- सत्संगति से दोष भी गुण हो जाते हैं।
7. सुन्दर ण होइ वहु। पउमचरिउ (2.36.12.9)
- किसी चीज में अति अच्छी नहीं होती।
8. असहायहो णत्थि सिद्धि। पउमचरिउ (2.37.9.1)
- असहाय व्यक्ति की संसार में सिद्धि नहीं होती।
9. किं णीसब्भावेण सणेहें। पउमचरिउ (3.53.12.3)
- बिना सद्भाव के स्नेह से क्या?
10. सिद्धि णाणेण बिणु ण दिट्ठि। पउमचरिउ (4.68.10.9)
- ज्ञान के बिना सिद्धि नहीं दीख पड़ती।
11. जहिं परम-धम्मु तहिं जीव-दय। पउमचरिउ (4.73.11. घत्ता)
- जहाँ परम धर्म होगा जीव-दया भी वहीं रहेगी।

12. णिय-जम्मभूमि जणणिएँ सहिय सग्गे वि होइ अइ-दुल्लहिय।
प.च. (5.78.17.4)
- अपनी माँ और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक प्यारी होती है।
13. कोहु मूलु सव्वहुँ वि अणत्थहुँ। पउमचरिउ (5.89.10.1)
- क्रोध ही सब अनर्थों का मूल है।
14. कज्जु धुरंधरु धुरहिं णिहिप्पइ। णायकुमारचरिउ (3.3.5)
- जो कोई कार्य में धुरन्धर पाया जाये उसी को कार्य-भार सौंपना चाहिये।
15. धम्म अहिंसा परमुजए तित्थइँ रिसिठाणाइँ पवित्तइँ। णायकुमारचरिउ (9.12)
- इस जगत में अहिंसा ही धर्म है और पवित्र तीर्थ वे ही हैं जहाँ मुनीन्द्रों का वास रहा है।
16. विज्जाविहिणु मा करहि मित्तु। (करकण्डचरिउ 2.13.3)
- विद्या-विहीन को कभी अपना मित्र मत बनाना।
17. आढत्तइ कम्मत्तइ पढमुवाउ चित्तेवउ।
णरसत्ति वि धणजुत्ति वि देसु कालु जाणेवउ। महापुराण (5.8 घत्ता)
- कार्य को प्रारम्भ करने पर पहले कार्य की चिन्ता करनी चाहिये। मनुष्य, शक्ति, धन, युक्ति तथा देशकाल को जानना चाहिये।
18. छिद्दणोसिहिं को रंजिज्जइ। महापुराण (14.12.7)
- छिद्रों का अन्वेषण करनेवालों से कौन प्रसन्न हो सकता है।
19. ते बुह जे बुहहं ण मच्छरिय। महापुराण (19.3.7)
- त वही है जो पण्डितों से ईर्ष्या नहीं करते।
20. ते मित्त ण जे विहरंतरिय। महापुराण (19.3.7)
- मित्र वही है जो संकट में दूर नहीं होते।
21. धम्म अहिंसउ सद्दहहि। महापुराण (26.12 घत्ता)
- अहिंसा धर्म की श्रद्धा करो।
22. धम्म खमाइ होइ गरुयारउ। महापुराण (28.7.1)
- धर्म क्षमा से गौरवशाली होता है।
23. रोसें णउ विसिड्डु पहरेवउ। महापुराण (28.8.13)
- क्रोध में आकर विशिष्ट का परिहार नहीं करना चाहिये।

24. दुङ्ग पक्खु ण कयावि धरेवउ। महापुराण (28.8.13)
- दुष्ट का पक्ष कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।
25. उण्णइं पावइ गुण गरुयउ गुणि। महापुराण (30.9.10)
- गुणी महान् गुणों से उन्नति पाते हैं।
26. जो सूरउ जो इंदियइं जिणइ। महापुराण (39.9.1)
- शूर वही है जो इन्द्रियों को जीतता है।
27. उज्जयमणु जं गुणभावणु तं माणुसु सुकुलीणउ। महापुराण (39.9 घत्ता)
- जो सरल मन और गुणों का भाजन है वही मनुष्य कुलीन है।
28. जइ णत्थि संति तो पडइ मारि। महापुराण (52.1.13)
- जहाँ शान्ति नहीं होती, वहाँ आपत्ति आती है।
29. रोसवंतु णरु कह वि ण रुच्चइ।
- क्रोधी व्यक्ति किसी को भी अच्छा नहीं लगता।
30. रोसु करइ बहु आवइ संकडु। महापुराण (60.23.3)
- क्रोध कई आपत्तियाँ और संकट उत्पन्न करता है।
31. धणदूसणु सढखलयण भरणु। महापुराण (69.7.4)
- कुटिल और दुष्ट लोगों का पालन करना धन का दूषण है।
32. अलसहु सिरि दूरेण पवच्चइ। महापुराण (71.21.7)
- आलसी व्यक्ति से लक्ष्मी दूर रहती है।
33. विणु जीवदयाइ ण अत्थि धम्मु। महापुराण (84.1.9)
- जीव-दया के बिना धर्म नहीं होता।
34. किं पिसुणयणेण खमाविण्ण। महापुराण (93.13.6)
- दुष्ट आदमी से क्षमा माँगने से क्या?
35. विणु मणसुद्धिइ कहिं धम्मसिक्ख। महापुराण (101.2.4)
- मन की शुद्धि के बिना धर्म की शिक्षा नहीं होती।
36. अविणीयं किं संबोहिण्ण। जसहरचरिउ (1.20.2)
- जो विनयहीन है उसे सम्बोधित करने से क्या फल?

37. जं चिंतिज्जइ विप्पिउ परहो तं एइ खणद्धि णियघरहो। ज.च. (2.14.8)
- जो कुछ दूसरों के लिए अप्रिय सोचा जाता है वही क्षणार्ध में अपने घर आ पहुँचता है।
38. सोएँ गिहि केवलु दुक्खु ठाइ। जसहरचरिउ (3.3.2)
- शोक से घर में केवल दुःख ही व्याप्त रहता है।
39. उज्जम विणु होइ ण का वि सिद्धि। धण्ण कु.च. (2.13.10)
- उद्यम के बिना कोई भी सिद्धि नहीं होती।
40. उज्जम विणु दुह-दालिद--बिद्धि। धण्ण कु.च. (2.13.10)
- उद्यम के बिना दुःख एवं दारिद्र की ही वृद्धि होती है।
41. विणु विणएण कवणु पावइ सिउ। वड्डमाण. च. (2.6.5)
- विनय गुण के बिना कौन व्यक्ति शिव (कल्याण) पा सकता है।
42. मह मयवंतु अकज्जे ण जंपइ। वड्डमाण च. (4.10.4)
- बुद्धिमान व्यक्ति बिना प्रयोजन के नहीं बोलते।
43. मित्तहो फलु हियमिय उवएसणु। सुदंसणचरिउ (1.10.2)
- मित्रता का फल हित-मित उपदेश है।
44. विहवहो फलु दुत्थिय आसासणु। सुदंसणचरिउ (1.10.3)
- वैभव का फल दीन-दुखियों को आश्वासन देना है।
45. सुयणहो फलु परगुणसुपसंसणु। सुदंसणचरिउ (1.10.5)
- सज्जनता का फल दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना है।
46. विणएँ लच्छि कित्ति पावइ। सुदंसणचरिउ (6.18.7)
- विनय से ही लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है।
47. सरणे पइइ जीव रक्खिज्जइ। सुदंसणचरिउ (6.18.11)
- शरण में आये हुए जीव की रक्षा करनी चाहिये।

जेत्थ पट्टणसरिस वरगाम

जेत्थ पट्टणसरिस-वरगाम

गामार वि नायरिय नायरा वि बहुविविहभोइय।

भोइया वि धम्माणुगय धम्मिणो वि जिणसमयजोइय॥

महिसीबद्धसणेह जहिँ कमलायर-गयसाल।

परिरक्खियगोहण रमहिँ गोवाल व गोवाल॥1॥

जत्थ केयारवरसालिफलबंधयं नियडतरुगलियमहुकुसुमसमगंधयं।

जत्थ सरवरइँ न कयावि ओहट्टइ मंदमयरंदवियसंतकंदोट्टइँ।

जत्थ भमरोलि कीरेहिँ समहिट्टिया नीलमरगयपवालेहिँ णं कंठिया।

छेतछोक्काररवपामरीसल्लिया पहिय-कणइल्ल-मिग पउ वि नउ चल्लिया।

- महाकवि वीर

जंबूसामिचरिउ, 5.9

- (विंध्यप्रदेश) जहाँ के ग्राम नगरों जैसे थे और ग्रामीण नागरिकों जैसे तथा नागरिक बहुविध भोगों से युक्त थे। भोगों से युक्त होकर भी वे धर्मानुगत (धर्मपालक) थे और धर्मानुगत होकर जिनधर्म से योजित (युक्त) थे। जहाँ के गोपाल (ग्वाले) गोपालों (भूमि अथवा प्रजापालक राजा) के समान रमण करते थे; राजा लोग महिषी (महादेवी) के प्रति स्नेहासक्त होते हैं, लक्ष्मी के निधान होते हैं तथा हस्तिशालाओं के स्वामी होते हैं और गोधन (पशुधन, पृथ्वीधन व जनधन) का रक्षण करते हुए आनन्द मनाते हैं, उसी प्रकार वहाँ के ग्वाले महिषियों से स्नेह करते थे और कमल सरोवरों रूपी गजशाला (गवयशाला-गोशाला) से युक्त थे (क्योंकि उनकी भैंसे तालाबों में ही प्रसन्न रहती हैं) तथा अपने गोधन (पशुधन) की रक्षा करते हुए रमण करते थे। जहाँ श्रेष्ठ-शालि (धान) के खेत फूले हुए थे, जो पास के वृक्षों से गिरे हुए मधु (मधूक-महुआ) के फूलों की गन्ध से सुगन्धित थे। जहाँ के सरोवर कभी सूखते नहीं थे और जो मन्द मकरन्द से युक्त विकसित होते हुए नीलकमल समूहों से पूर्ण थे। जहाँ शुकों से समाधिष्ठित भ्रमरपंक्ति मरकत व प्रवाल (मूँगा) मणियों से जड़ी हुई नीलमणि के समान शोभायमान होती थी। जहाँ खेतों में कृषक-वधुओं के छोक्कार रव (पक्षियों को डराने के लिए की जानेवाली ध्वनि) से बिंधकर, पथिक, शुक और मृग एक पग भी आगे नहीं बढ़ते थे।

- अनु.- डॉ. विमलप्रकाश जैन

पादलिप्तसूरि-रचित 'तरंगवईकहा' (तरंगवतीकथा)

- श्री वेदप्रकाश गर्ग

कथा-साहित्य चिरन्तनकाल से लोकरंजन एवं मनोरंजन का माध्यम रहा है। अतः इसका प्रवाह चिरकाल से सतत प्रवहमान है। विशाल भारतीय कथा-साहित्य में जैन-कथा-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-कथा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। जैन-साहित्य में कथा की परम्परा अति प्राचीन है और वह प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तक आई है। जैनागमों में जहाँ छोटी-छोटी अनेक प्रकार की कहानियाँ दृष्टिगत होती हैं, वहाँ जैनागमों के निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रन्थों में तो अपेक्षाकृत विकसित कथा-साहित्य के दर्शन होते हैं। जैन कथाकारों ने पृथक् कथा-ग्रन्थों का भी बड़ी संख्या में प्रणयन किया है।

जैन लेखकों ने जन-साधारण में प्रचारात्मक दृष्टि से नाना प्रकार की मनोरंजक कथाओं का निर्माण किया। ये कथा-ग्रन्थ संस्कृत के वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि लौकिक-कथाओं के समान ही हैं। उनमें ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक, धार्मिक एवं लौकिक आदि कई प्रकार की कथाएँ समाविष्ट हैं। इनमें किसी लोक-प्रसिद्ध पात्र को कथा का केन्द्र बनाकर वीर व शृंगारादि रसों का आस्वादन कराता हुआ लेखक सबका उपसंहार, वैराग्य एवं शम (शान्त रस) में कर देता है। इनमें पूर्व भवों की अनेक अद्भुत कथाएँ और अवान्तर कथाओं का ताना-बाना बुना रहता है अर्थात् जैनों द्वारा

पात्रों के आकार से दिव्य, मानुष एवं मिश्र कथाएँ लिखी गई हैं। उक्त कथाओं का उद्देश्य जैन-विचार रूप में व्रत, उपवास, दान, पर्व, तीर्थ तथा कर्मवाद एवं संयम आदि के माहात्म्य को प्रकट करना है। इस दृष्टि से यद्यपि वे आदर्शोन्मुखी हैं, किन्तु फिर भी जीवन के यथार्थ धरातल पर टिकी हुई हैं और उनमें सामाजिक जीवन की विविध भंगिमाओं के दर्शन होते हैं। कथानक की दृष्टि से उक्त कथाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उनमें सभी प्रकार की कथाओं को स्थान मिला है, जो घटनाबहुल हैं।

जैन-कथाओं की परम्परा में सिद्धर्षिकृत 'उपमिति भवप्रपंचकथा', धनपालकृत 'तिलक-मंजरी', पादलिप्तकृत 'तरंगवती', संघदासगणि-कृत 'वसुदेवहिण्डी', हरिभद्रकृत 'समराइच्चकहा' और उद्योतनसूरिकृत 'कुवलयमालाकहा' आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेख में 'तरंगवर्कई-कहा' (तरंगवती-कथा) के सम्बन्ध में चर्चा है।

'तरंगवर्कई-कहा' प्राकृत-कथा-साहित्य की सबसे प्राचीन कथा है। इस नाम की प्रेमकथा का उल्लेख 'अनुयोगद्वार सूत्र'¹, 'दशवैकालिक चूर्णि'² तथा 'विशेषावश्यक भाष्य'³ में मिलता है। निशीथचूर्णि में तरंगवती को लोकोत्तर धर्म कथा कहा है।⁴ उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला' में इस कथा की प्रशंसा की है। इसे वहाँ संकीर्ण कथा कहा गया है।⁵ इसी प्रकार धनपाल कवि ने 'तिलकमंजरी' में⁶, लक्ष्मणगणि ने 'सुपासनाह चरित'⁷ में तथा प्रभाचन्द्रसूरि ने 'प्रभावक चरित'⁸ में तरंगवती का सुन्दर शब्दों में स्मरण किया है।

'तरंगवती' अपने मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है। हाँ, 1643 गाथाओं में उसका संक्षिप्त रूप 'तरंगलीला' नाम से उपलब्ध है। इसके सम्पादक श्री नेमिचन्द्र का कहना है कि 'तरंगवती' बहुत बड़ा ग्रन्थ था और इसकी कथा अद्भुत थी। यह वैराग्यमूलक एक ऐतिहासिक प्रेम-काव्य है।

'तरंगवतीकथा' के रचयिता पादलिप्तसूरि थे। उनका जन्म कोशल में हुआ था। उनका पूर्व नाम नागेन्द्र था। साधु हो जाने पर 'पादलिप्त' नाम हुआ। वे जैन धर्म के एक प्रसिद्ध एवं प्राचीन आचार्य थे और आन्ध्र के सातवाहन नरेश 'हाल' की राजसभा में सम्मिलित कवि थे। उद्योतनसूरि ने भी 'कुवलयमाला' की प्रस्तावना-गाथाओं में उन्हें राजा सातवाहन की गोष्ठी की शोभा कहा है। एक किंवदन्ती के अनुसार वे उज्जयिनी के राजा विक्रम के समकालीन थे। विद्वानों ने उनका समय चौथी शती से पूर्व निश्चित किया है। उनका विशेष परिचय 'प्रभावक चरित' में दिया गया है। प्रोफेसर लॉयमन ने 'तरंगवर्कई' का काल ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।

'तरंगलीला' को 'संक्षिप्त तरंगवती'¹⁰ भी कहते हैं और इसमें कथावस्तु चार खण्डों में विभक्त है, जो संक्षेप में इस प्रकार है-

‘चन्दनबाला’ के नेतृत्व में साध्वी संघ में सुव्रता आर्या थी, जो अति रूपवती थी। उसे अपने रूप-सौन्दर्य का गर्व था। वह श्राविका को अपनी जीवन-कथा कहती है- ‘पूर्व भव में वह एक धनी वणिक् की सुन्दरी पुत्री थी। एक दिन वह उपवन में क्रीड़ा करने गई, तो सरोवर में हंस-मिथुन को देखकर उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया, जबकि वह स्वयं हंसिनी थी, उसके पति हंस को किसी व्याध ने मार डाला था। वह भी उसके प्रेम के कारण उसके साथ जलकर मर गई थी। यह याद करके उसे मूर्च्छा आ गई। यहीं से प्रेम और विरह की जागृति होती है। सचेत होने पर वह अपने प्रियतम की खोज में निकल पड़ी। उसने एक सुन्दर चित्रपट बनाया, जिसमें हंस-युगल का जीवन चित्रित था। इसकी सहायता से उसने अनेक विपत्तियाँ सहने के बाद अपने पूर्व-जन्म के पति को ढूँढ़ लिया। इस प्रकार उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। वह और उसका प्रेमी गन्धर्व विवाह-बन्धन में बँधते हैं। परदेश में भटकते हुए वे काली देवी की बलि चढ़ाने के संकट में पड़ जाते हैं। किसी प्रकार उनका बचाव होता है। माता-पिता उन्हें खोजकर उनका विधिवत् विवाह कर देते हैं।

एक समय वसन्त-ऋतु में वन-विहार करते समय उन्हें जैन मुनि से उपदेश सुनने को मिला जो कि पूर्वभव में नर हंस को मारनेवाला व्याध था। उससे प्रभावित होकर उन्हें संसार से विरक्ति हो जाती है और अन्त में वे दोनों प्रब्रज्या लेकर जैन धर्म स्वीकार करते हैं। अन्त में सुव्रता कहती है- वही ‘तरंगवती’ मैं सुव्रता आर्या हूँ।

उक्त आत्मकथा उत्तम पुरुष में वर्णित एक अद्भुत शृंगार-कथा है, जिसका अन्त धर्मोपदेश में हुआ है। इसमें करुण-शृंगार आदि अनेक रसों, प्रेम की विविध परिस्थितियों, चरित्र की ऊँची-नीची अवस्थाओं, वाह्य तथा अन्तर्संघर्ष की स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य-चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण एवं साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

-
1. द्रष्टव्य, सूत्र 130, उद्धृत- डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण वाराणसी, 1995, पृष्ठ-323
 2. द्रष्टव्य 3, पृष्ठ-109, उद्धृत, वही, पृष्ठ-323
 3. द्रष्टव्य गाथा 1508, उद्धृत, वही, पृष्ठ-323
 4. तरंगलीला की भूमिका में उद्धृत, पृष्ठ-7

5. कुवलयमाला, पृष्ठ-3, गाथा 20
6. तिलक मंजरी, श्लोक 23
7. सुपासनाह चरित, पुव्वभव, गाथा 9
8. प्रभावक चरित, पृष्ठ-28-40
9. किसी-किसी ने इस कथा का नाम 'तरंगलोला' लिखा है।
10. इसके रचयिता वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्रगणि हैं, जिन्होंने मूल कथा के लगभग 1000 वर्ष बाद अपने यश नामक शिष्य के लिए इसे लिखा था। नेमिचन्द्र के अनुसार पादलिप्त ने 'तरंगवती-कहा' की रचना देशी भाषा में की थी जो अद्भुत रस-सम्पन्न एवं विस्तृत थी और केवल विद्वद् योग्य थी। लेखक के सम्बन्ध में अन्य वृत्त अज्ञात है। जर्मन विद्वान् अर्नेस्ट लॉयमन ने इसका जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया है। इस भाषान्तर का गुजराती अनुवाद भी पहले पत्रिका में और बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

- 14, खटीकान, मुजप्फर नगर

उत्तर प्रदेश - 251 002

महाकवि स्वयंभू की लोकदृष्टि

- डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी



सर्वप्रथम यह कहना आवश्यक है कि यह लेख अकादमिक लेख नहीं है। स्वयंभूदेव को भारत के एक दर्जन अमर कवियों में रखनेवाले महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के पास अपभ्रंश की आधिकारिक जानकारी थी। अपनी झोली में तो वह भी नहीं है। हाँ! विद्यार्थीभाव अवश्य बचा है जो इस उपभोक्तावादी अध्येता समाज के पास कम रहता है। अपनी सीमा में मैंने स्वयंभूदेव के अनूदित काव्य-अंशों का पारायण किया है जिसे जैन रामायण कहा जाता है। तुलसी का मानस (रामचरित), वाल्मिकी का रामायण और अध्यात्म रामायण को भी मैंने अपनी सीमा के अन्तर्गत पढ़ा है। एक हद तक मैं तुलसी के मानस का आग्रही भी रहा हूँ, अभी भी हूँ, किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं होता कि एक अच्छे कवि की कल्पनाशक्ति और काव्य सामर्थ्य से वंचित रहा जाए!

प्रतिभा, अभ्यास व व्युत्पत्ति का आश्रय ग्रहणकर रचना की सम्प्रेषणीयता समाज का अंग बनती है, किन्तु अब तक का जो अपना अध्ययन रहा है उसके आधार पर मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि प्रतिभा का नैसर्गिक स्वरूप ही कवि को स्थायी कीर्ति देने में समर्थ होता है और यह बात स्वयंभू के साथ लागू होती है। लोक का अनुभव और लोक का सौन्दर्य रचना को प्रौढ़ता तो देती ही है कवि की अपनी

शक्ति का भी पता देती है कि वह गगन-विहारी वायवीय कल्पना और स्वप्निल सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति का गायक नहीं है।

पउमचरिउ कवि की कीर्ति का आधार है। पउमचरिउ में गौतम गणधर जब कथा आरम्भ करते हैं तो कल्पना का धार्मिक समायोजन और फिर ऋषभजिन के जन्म की कथा आरम्भ होती है। जो बात यहाँ मुझे कहनी है वह यह कि यहाँ भी लोक अपनी कल्पना में उपस्थित है चाहे वह रानी का स्वप्न हो या राजा की भविष्यवाणी कि- 'तुम्हारे तीनों लोकों में श्रेष्ठ पुत्र होगा'। पुनः जिस तरह से, जिस कौतूहल और कथा-सृष्टि के साथ स्वयंभूदेव ने काव्य-कथा का संयोजन किया है वह खुद में लोक की नैसर्गिक कल्पनाशक्ति की जयगाथा कही जा सकती है- जिनभट्टारक जिस तरह से सर्वोच्च शक्ति बने देवताओं से पूजित हो रहे हैं और आश्चर्य की बात यह कि खेल-खेल में बीस लाख वर्ष पूर्व बीत जाते हैं- तब प्रजाजन के विलाप पर (क्योंकि देवलोक में कल्पवृक्ष वगैरह नष्ट हो गए हैं) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य की शिक्षा भी जगश्रेष्ठ भट्टारक ऋषभ देते हैं-

अमर-कुमारें हिं सहुं कीलन्तहों। पुव्वहुं बीस लक्ख लङ्घन्तहों।

एक्क-दिवसें गय पय कूवारें। देव-देव मुअ भुक्खा-मारें॥

अण्णहुं असि मसि किसि वाणिज्जउ। अण्णहुं विविह-पयारउ विज्जउ॥2.8॥

उदाहरणों के जरिए अपनी बात पुष्ट करने में तो स्वयंभू का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं दिखता। इस मामले में वह अपभ्रंश के आचार्य कवि हैं। अब समय बीतने पर ऋषभजिन के शरीर की कान्ति उसी तरह बढ़ने लगी। जैसे व्याख्या करने पर व्याकरण का ग्रन्थ विकसित होने लगता है-

काले गलन्तए णाहु णिय-देइं-रिद्धि परियड्डइ।

विविरिज्जन्तु कईहिं वायरणु गन्थु जिह वड्डइ॥2.7.9॥

यह कभी-कभी तो अति की प्रवृत्ति तक कवि में देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए चक्रवर्ती भरत की जययात्रा अयोध्या की सीमा-रेखा पर रुक जाती है तो वह किस तरह-

पइसरइ ण पट्टणे चक्क-रयणु।

जिह अवुहब्भन्तरे सुकइ-वयणु॥

जिह वम्भयारि-मुहे काम सत्थु।

जिह गोड्डङ्गणे मणिरयण वत्थु॥

जिह वारि-णिवन्धणें हत्थि-जूह।
 जिह दुज्जण-जणें सज्जण-समूह॥
 जिह किविण-णिहेलणें पणइ-विन्दु।
 जिह वहल-पक्खें खय-दिवस-चन्दु॥
 जिह सम्मइदंसणु दूर-भव्वें।
 जिह महुअरि-कुलु दुग्गन्धे रणणें॥
 जिह गुरु गरहिउ अण्णाण-कण्णें॥
 जिह परम-सोक्खु संसार-धम्में।
 जिह जीव-दया-वरु पाव कम्में॥4.1॥

अर्थात् वह चक्ररत्न उसी तरह से उस नगरी में नहीं जा पारहा था जिस तरह से मूर्ख लोगों में सुकवि के वचन, ब्रह्मचारी के मुख में काम-शास्त्र का प्रवचन, गोठ में मणि और रत्नों का समूह, द्वार के निबन्धन में हस्तिसमूह, दुर्जनों के बीच में सज्जन, कृपण व्यक्ति के यहाँ भिक्षु, शुक्ल पक्ष में कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा, दूर भव्यजन में सम्यक्दर्शन, दुर्गन्धित उपवन में भ्रमर, अन्यायशील जन में गुरु का उपदेश, सांसारिक धर्मों में मोक्ष-सुख, पापकर्म में उत्तम जीवदया प्रवेश नहीं कर सकता। ठीक उसी तरह से चक्रवर्ती भरत का रत्नचक्र अयोध्या नगरी में नहीं प्रवेश कर सका।

कवि लोकाचार से अच्छी तरह से परिचित है। अपभ्रंश के इस कवि को जमाने से बहुत आगे माना जाना चाहिए, उसका एक उदाहरण सामने है- श्रीकण्ठ द्वारा कमलावती को ग्रहण करने का प्रसंग। कमलावती का पिता क्रोधित होता है तो उसका पूरा मन्त्रीमण्डल उससे कह उठता है कि श्रीकण्ठ या कमलावती का कोई दोष नहीं है (दोनों एक-दूसरे के योग्य व अनुरूप हैं) और फिर तुम भी तो किसी योग्यवर को ही तो देते, क्योंकि कन्याएँ दूसरे की ही पात्र होती हैं।

परमेसर एत्थु अ खन्ति कउ। सव्वउ कण्णउ पर-भायणउ॥6.3.2॥

इतना ही नहीं, लोक में किसी भी जगह के प्रस्थान पर शुभ-अशुभ, शकुन-अपशकुन पर विचार किया जाता है। पउमचरिउ का कवि भी इस पर विचार करता है-

‘गमणु ण सुज्झइ महु मणहों’ तं मालि सुमालि करेहिँ धरइ।

पेक्खु देव दुणि मित्ताइँ सिव कन्दह वायसु करगरइ॥8.2.9॥

पेक्खु कुहिणि विसहर-छिज्जन्ती। मोक्कल-केस णारि रोवन्ती॥

पेक्खु फुरन्तउ वामउ लोयणु। पेक्खहि रुहिर-ण्हाणु वस-भोयणु॥

पेक्खु वसुन्धरि-तलु कम्पन्तउ। घर देवउल-णिवहु लोटन्तउ॥१८.३॥

अर्थात् अभी प्रस्थान करना मेरे विचार से ठीक नहीं है। बहुत सारे अपशकुन हो रहे हैं। सियार रो रहा है, कौआ कुभाषा बोल रहा है। विषधरों से रास्ता पट गया है। बाई आँख फड़क रही है। रक्त की धारा और हाड़-मांस का वह भीषण वीभत्स दृश्य दिखाई दे रहा है। धरती काँप रही है जिसके कारण घर और मन्दिर तक के सारे देवता भी त्रस्त हो रहे हैं।

दरअसल रचनाकार पर कोई साम्प्रदायिक प्रभाव तब तक नहीं पड़ता है जब तक वह रचनाकार रहता है। प्रतिश्रुति बदलते ही सृजन की मूल आस्था व सामाजिकता का आग्रह भी सीमित होने लगता है। पउमचरिउ का रचनाकार भी जब तक अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को लोक से जोड़े रखता है तब तक वह अपने पात्रों के जरिये मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ कृति बताता है, क्योंकि उसी में तीर्थकरों ने भी (यानी मनुष्य रूप में ही) मुक्ति और कैवल्यज्ञान प्राप्त किया है।

भणइ णराहिउ केत्तिँण जगे माणुस-खेत्तु जँ अगलउ

जसु पासिउ तित्थङ्करँहि सिद्धत्तणु लद्धउ केवलउ॥

अतः मनुष्य-रूप स्वयंभू को अतिप्रिय है। आत्माभिव्यक्ति को दूसरे तक सम्प्रेषित करने का विधान भी विधाता ने लोक या प्रकृति में सिर्फ मनुष्य को ही दिया है।

कवि जब प्रकृति के वर्णन में लगता है तो उसके आत्मीयभाव यथार्थ की चिन्ता करते हैं जिसमें आकर्षण, कल्पना और यथातथ्यता तीनों का मेल हो। उपमा या उपमान कवि की चिन्तनधारा को कहीं से भी वायवीय नहीं बनाते। कवि का एक वसन्त वर्णन इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है--

पइठु वसन्तु-राउ आणन्दे। कोइल-कलयल-मङ्गल-सदँ।

अलि-मिहुणँहि वन्दिणँहि पढन्तँहि। वरहिण-वावणँहि णच्चन्तँहि।

अन्दोला-सय-तोरण-वारँहि। दुक्कु वसन्तु अणेय-पयारँहि।

कत्थइ गिरि-सिरहइँ विच्छायइँ। खल-मुहइँ व मसि-वण्णइँ णायइँ।

कत्थइ माहब-मासहँ मेइणि। पिय-विरहँण व सूसइ कामिणि॥२६.५॥

- कोयल के कूहकने के मंगल पाठ के साथ वसन्त का आगमन हो रहा था। भौरों की तरह बन्दीजन मंगल पाठ पढ़ रहे थे और मोररूपी कुब्जवामन नाच रहे थे। इस तरह अनेक प्रकार के हिलते-डुलते तोरण-द्वारों के साथ बसन्त राजा आया। कहीं आम

के पेड़ों में नये किसलय फल-फूलों से लद रहे थे। कहीं कान्तिरहित पहाड़ों के शिखर काले रंगवाले दुष्ट मूर्खों की तरह दिखाई दे रहे थे। कहीं-कहीं वैशाख माह की गर्मी से सूखी हुई धरती ऐसी जान पड़ती थी मानो प्रिय-वियोग से पीड़ित कामिनी हो।

कवि को बसन्त-ऋतु का वर्णन कुछ अधिक ही प्रिय लग रहा है, क्यों न हो लोक में बसन्त की अतिशय महत्ता को देखते हुए इसे अस्वाभाविक भी तो नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए स्वयंभूदेव ने पउमचरिउ के प्रथम काण्ड (विद्याधर काण्ड) में ही बसन्त का वर्णन करते हुए लिखा है-

पङ्कय-वयणउ कुवलय-णयणउ केयइ-केसर-सिर-सेहरु।

पल्लव करयलु कुसुम-णहुज्जलु पइसरइ वसन्त-णरेसरु॥14.1.9॥

अर्थात् बसन्त किस तरह से संसार में प्रविष्ट हुआ- कमल उसका मुख था; आँख के रूप में कुमुद, केतकी पराग के रूप में; सिर शोखर-सिर मुकुट; पल्लव करतल और फूल उसके उज्ज्वल नख थे। उसके बाद भी कवि की बासन्तिक अभि-लाषा समाप्त नहीं होती। वह बराबर बसन्त का वर्णन नए-नए स्वरूप में करता रहता है। दरअसल कवि-समाज के लिए बसन्त जैसे प्रकृति का दूसरा नाम ही है, इस तरह से स्वयंभूदेव के लिए भी है। दूसरी ऋतुओं का वर्णन भी देखने को मिल जाता है तथापि वह स्वाद बदलने की तरह ही है।

पउमचरिउ का लेखक बराबर लोक में दृष्टि रखता है। नारी अंग-प्रत्यंग पर भी उसकी दृष्टि रही है। केवल पउमचरिउ से नारी-स्मैन्दर्य के प्रकार देखना हो तो वह दर्जन से ऊपर के प्रकारों में वर्णित है। दूसरी तरफ जब वह परलोक की बात करता है तो लगता ही नहीं है कि यह वही कवि है--

को कासु सव्वु माया-तिमिरु। जल-बिन्दु जेम जीविउ अ-थिरु॥

सम्पत्ति समुद्-तरङ्ग णिह। सिय-चञ्चल विज्जुल लेह जिह॥

जोब्बणु गिरि-णइ-पवाह-सरिसु। पेम्मु वि सुविणय-दंसण-सरिसु॥

धणु सुर-धणु-रिद्धिहें अणुहरइ। खणें होइ खणद्धें ओसरइ॥

झिज्जइ सरीरु आउसु गलइ। जिह गउ जल-णिवहु ण संभवइ॥54.5॥

अर्थात् कौन किसका है, यह सब माया का अंधकार है। जीवन जल की बूँद की तरह अस्थिर है। सम्पत्ति समुद्र की लहर की तरह है। लक्ष्मी बिजली की रेखा की तरह चंचल है। यौवन पहाड़ी नदी के प्रवाह के समान है। प्रेम भी स्वप्न-दर्शन की तरह है। धन इन्द्रधनुष के समान है, क्षण में आता है और क्षण में जाता है। शरीर का प्रतिक्षण नाश हो रहा है, आयु गल रही है।

आश्चर्य इसलिए भी होता है कि जहाँ पर जिनभक्ति की बात होती है वहाँ पर कवि सौन्दर्य को क्षणिक मात्र मान लेता है नहीं तो जब सौन्दर्य का वर्णन हो तो एक-एक अंग का सौन्दर्य यह अपभ्रंश कवि इस तरह से वर्णित करता है जैसे सौन्दर्य का कोई मानक स्वरूप निर्माणित कर रहा है। सीता का सौन्दर्य वर्णन इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है--

वर-पाय-तलोंहिं पउणा रहिं। सिङ्गल-णहेहिं दिहि-गारएहिं॥
 उच्चङ्गुलिऐहि वेउल्लिएहिं। वट्टुलिऐं गुप्फेहिं गोल्लिएहिं॥
 वर-पोट्टरिएहिं मायन्दि एहिं। सिरि-पव्वय-तणिएं हिं मण्डिएं हिं॥
 ऊरुअ-जुएण णिप्पालएण। कडिमण्डलेण करहाडएण॥
 वर-सो णिए कञ्ची-केरियाएँ। तणु-णाहिएण गम्भीरियाएँ॥
 सुललिय-पुट्टिएँ सिङ्गरियाएँ। पिण्डथणियएँ एलउरियाएँ॥
 वच्छयलें मज्झिमएसएण। सिन्धव-मणिबन्धहिं वट्टुल्लेहिं॥
 माणुग्गीवेएँ कच्छायणेण। उट्टुउडें गोग्गडियहें तणेण॥
 दसणावलियएँ कण्णाडियएँ। जीहएँ कारोहण-वाढियएँ॥
 णासउडेंहिं तुङ्ग-विसय-तणेहिं। गम्भीरएहिं वर-लोयणेहिं॥
 भउहा-जुएण उज्जेणएण। भालेण वि चित्ताऊडएण॥
 कासिएँहिं कवोलेँहिं पुज्जएहिं। कण्णेहि मि कण्णाउज्जएहिं॥
 काओलिहिं केस-विसेसएण। विणएण वि दाहिण एसएण॥
 अह किं वहुणा वित्थरेंण अ-णिविण्णेंण सुन्दर-मइण।
 एक्केक्कउ वत्थु लएप्पिणु णावइ घडिय पयावइण॥49.8॥

अर्थात् सीता के चरण पउनारी स्त्रियों के चरणतल की तरह थे। नख, भाग्य-शाली सिंहलिनियों के नखों की तरह। उँगलियाँ वेउल्ल स्त्रियों की उँगलियों की तरह। एड़ी गोल्लक स्त्रियों की गोल एड़ियों की तरह। मण्डन श्री पर्वत की कन्याओं के मण्डन से, उरू नेपाली महिलाओं के उरूयुगल-से। कटि, करहाट की स्त्रियों के कटिमण्डल-से। श्रोणि काञ्ची की महिलाओं की श्रोणि-से। नाभि गम्भीर देश की स्त्रियों की गम्भीर नाभि-से। पुट्टे, शृंगारिकाओं के सुन्दर पुट्टों-से। भुजा शिखर, पश्चिम देशीय स्त्रियों के भुजाशिखर-से। बाहु, द्वारवती की स्त्रियों के सुन्दर बाहुओं-से। मणिबन्ध, सिन्धुदेश की स्त्रियों के सुन्दर मणिबन्धों-से। ग्रीवा कच्छ महिलाओं की उन्नत ग्रीवा-से। टुड्डी, गोग्गल महिलाओं

की सुन्दर ठुड़ी-से। दाँत कर्नाटक देश की स्त्रियों के सुन्दर दाँतों-से, जीभ कारोहव देश की सुन्दर स्त्रियों की जीभ-से। नाक और नेत्र तुङ्ग देशीय स्त्री की नासिका और नेत्रों-से। भौहें उज्जैन की स्त्री की भौहों-से। भाल चित्तौड़ की महिलाओं के भाल-से। कपोल काशी देश की आदरणीय स्त्रियों के कपोलों की तरह। कान कन्नौज की स्त्रियों के सुन्दर कानों-से। केश, काओली महिलाओं के केश-से। विनय दक्षिण देश की महिलाओं के विनय से निर्मित हुई थी। कहने का मतलब यह है कि सीता का रूप-सौन्दर्य, उनका अंग-प्रत्यंग अपने निर्दिष्ट उपमाओं की तरह-से था। अधिक कहने से क्या फायदा, सीता का रूप-सौन्दर्य ऐसा था कि मानो कुशल विधाता ने एक-एक वस्तु लेकर उसे गढ़ा था।

लोक में सौन्दर्यवर्णन का जो रूप मिलता है वह अल्प के मानक से नहीं, अतः कवि जिसे लोक को साधन और साध्य दोनों रूपों में देखना है उसे भी सौन्दर्य की सीमा को तोड़ देने में ही सुख मिलता है।

काव्य में प्रकृति बहुआयामी ढंग से किस तरह से आती है कवि उसे (किस तरह से जीवन और स्वभाव से अभिन्न हो सकती है इसे) विभिन्न स्तरों पर अपनी प्रतिभा के जरिए किस तरह से अभिव्यक्ति दे सकता है यह पउमचरित के माध्यम से देखा जा सकता है।

धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य की लोकव्यापी मान्यताओं से (चाहे उसे प्रगति-विरोधी ही क्यों नहीं कहा जाए) किसी भी तरह साहित्य को जुड़ना होता है, क्योंकि यह सामाजिकता का अनिवार्य हिस्सा हो जाता है। पउमचरित में समर्थवान राम जब यह विचार करते हैं तब पाठक को यह लग सकता है कि यह कवि लोक और परम्परा के प्रगतिशील तत्त्वों पर विचार तो करता ही है, वह कहीं से रूढ़ियों को जान-बूझकर प्रश्रय नहीं देता। राम का वक्तव्य देखें--

जो णरवइ अइ-सम्माण-करु। सो पत्तिय अत्थ-समत्थ-हरु ॥
जो होइ उवायणें वच्छलउ। सो पत्तिय विसहरु केवलउ ॥
जो मित्तु अकारणें एइ घरु। सो पत्तिय दुट्टु कलत्त-हरु ॥
जो पन्थिउ अलिय-सणेहियउ। सो पत्तिय चोरु अणेहियउ ॥
जो णरु अत्थकएँ लल्लि-करु। सो सत्तु णिरुत्तउ जीव-हरु ॥
जा कामिणि कवड-चाडु कुणइ। सा पत्तिय सिर-कमल वि लुणइ ॥
जा कुलवहु सवहेंहि ववहरइ। सा पत्तिय विरुय-सयइँ करइ ॥
जा कण्ण होवि पर-णरु वरइ। सा किं वड्ढन्ती परिहरइ ॥

आयहुँ अट्टहु मि जो णरु मूढउ वीसम्भइ।

लोइउ धम्मु जि छुडु विप्पउ पएँ पएँ लब्भइ॥36.13॥

अर्थात् राम का कहना है कि- जो राजा सम्मान करनेवाला होता है वह अवश्य अर्थ और सामर्थ्य का हरण करनेवाला होना चाहिए। जो दान देने में अधिक उदारता दिखाता है उसे सीधा न समझा जाए, वह विषधर है। जो मित्र बिना किसी कारण के घर पर आता है उसके चरित्र पर दृष्टि रखो, वह स्त्री का हरण कर सकता है। जो पथिक रास्ते में अकारण स्नेह जताता है उसे अहितकारी चोर समझो। जो व्यक्ति अधिक लल्लो-चप्पो यानि चापलूसी करता है वह प्राण भी ले सकता है। जो स्त्री कपट-भरी चाटुकारिता करती है वह सिर कटवा सकती है। जो कुलवधू बार-बार शपथ का व्यवहार करता है वह सैकड़ों बुराइयाँ कर सकती है। जो कन्या होकर भी दूसरे पुरुष को चाहती है वह क्या आगे ऐसा करना छोड़ देगी!

राम कहते हैं कि लोक धर्म की भाँति, जो मूढ़ इन बातों में विश्वास नहीं करता उसे निश्चित ही पग-पग पर धोखा खाना पड़ता है।

पउमचरिउ में जितने भी प्रमुख पात्र हैं सभी को लोक की अच्छी जानकारी है। लक्ष्मण तो इतने लोकवादी हैं, इस लोकविद्या में इतने निपुण हैं कि वे यह भी जानते हैं कि कौन-सी स्त्री कैसी होती है! सुलक्षिणी स्त्रियों की शारीरिक बनावट को सामुद्रिक शास्त्र के मुताबिक बताते हुए लक्ष्मण का यह कहना-

.....महु-वण्ण महा- घण छाया-थर

सुह-भमर-णाहि-सिर-भमर-थण। सा वहु-सुय बहुधण वहु सयण॥

जहें वामएँ करयलें होन्ति सय। मीणारविन्द-विस-दाम-थय।

गोउर घरु गिरिवरु अहव सिल। सु-पसत्थ स-लक्खण सा महिल।

चक्कङ्कुस-कुण्डल-उद्धरिह। रोमावलि वलिय भुयङ्गु जिह।

अद्धेन्दु-णिडालें सुन्दरेंण। मुत्ताहल-सम -----दन्तन्तरेण॥36.14॥

अर्थात् जो मधु रंग की भाँति अत्यन्त कान्तिमती हो तथा जिसकी नाभि, सिर और स्तन सुन्दर तथा सुडौल हों वह बहु पुत्रवती, धनवती और कुटुम्बवाली होती है। जिसकी बाईं हथेली में चक्र, अङ्गुश और कुण्डल उभरे हों, रोमराजि साँप की तरह मुड़ी हुई हो, ललाट अर्धचन्द्र की तरह सुन्दर हो, दाँत मोती की तरह चमकते हो इन लक्षणों से युक्त वनिता के विषय में कहा जाता है कि वह चक्रवर्ती की पत्नी होती है।

इसी तरह दुष्टा स्त्रियों के लक्षणों की चर्चा भी लक्ष्मण करते हैं-

जङ्घोरु-करेहिँ समंसलिय। चल लोयण गमणुत्तावलिय॥

कुम्मुण्णय-पय विसमङ्गुलिय। धुय-कविल-केसि खरि पङ्गुलिय॥

कडि-चिहुर-णाहि मुह-मासुरिय। सा रक्खसि वहु-भय-भासुरिय॥36.15॥

अर्थात् जिस स्त्री की जाँघ और पिण्डली स्थूल हों, जिसके नेत्र चञ्चल हों, जो चलने में उतावली करती है, जिसके पैर कछुए के समान हों, अँगुलियाँ विषम और बाल कपिल वर्ण के तथा चंचल हों। जिसके सारे शरीर में रोमराजि उठी हुई हो वह पुत्र और पति का नाश करानेवाली होती है। तीतर-सी आँखवाली स्त्री निश्चय ही दरिद्र होती है। कौए के समान दृष्टि और स्वरवाली स्त्री दुसाध्य एवं दुःखिता होगी।

कवि स्वयंभू की दृष्टि अपने काल और लोक के प्रति यथार्थपरक होते हुए भी कल्पना का आश्रय लेती रही है, उसने परम्परा को भी आत्मसात किया है। अभ्यास के होते हुए उनके पास नैसर्गिक प्रतिभा की कमी नहीं रही। शायद यही कारण है कि महापण्डित राहुल की दृष्टि में भारत के एक दर्जन कवियों में से एक वे भी थे।

-
1. पउमचरिउ - महाकवि स्वयंभू, संपा.-अनु.- डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
 2. हिन्दी काव्यधारा - राहुल साकृंत्यायन

हिन्दी भवन
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन
पश्चिम बंगाल- 731235

पार्श्वनाथ आदित्यवार कथा



आदिअंतु जिणु वंदिवि सारद धरिवि।
 गुरु णिगंथु णवेप्पिणु सुयणहं अणुसरिवि॥1॥
 पासणाह तह रविवउ पभणमि सावयहं।
 जासु करंतह लब्भइ संपइ इह पंचकर॥2॥

पुव्वदिसहं सुपसिद्धी वाणारसिणयरि।
 मढमंदिरआरामहं सोहिय सछसिरि॥3॥
 तहि पयपालु नराहिउ निवसइ धम्मु ठिओ।
 नरवइ नीइ सयाणउ दुवसण दूरिद्धिओ॥4॥

अरूहधम्म अणुरत्तउ निवसइ सेठि तहि।
 मइसायरू पिय गुणवइ सहियउ इंदुजिहं॥5॥
 ताह पुत्त रिसिसंखउवाल गुणसहिया।
 छहसुय तं परिणाविय सेठिहि सुवसहिया॥6॥

पार्श्वनाथ आदित्यवार कथा

संपा.-अनु.- श्रीमती शकुन्तला जैन



- 1-2 आदि से अन्त तक हुए (24 तीर्थकर) जिनेन्द्र की वन्दना करके और जिणवाणी/सरस्वती को मन में धारण कर निर्ग्रन्थ गुरू को नमस्कार कर और सज्जनों का अणुसरण कर अब श्रवकों के लिए उन पार्श्वनाथ के रविव्रत को कहता हूँ। जिसको करते हुए इस संसार/लोक में पाँच प्रकार की गति रूप (विपुल) सम्पत्ति प्राप्त की जाती है (करता है)। (पंच गति-मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यच, मोक्ष)॥1-2॥
- 3-4 पूर्व दिशा में मठ, मन्दिर और ब्रतियों के रहने के निवास स्थान से शोभित और स्वच्छ सुप्रसिद्ध वाणारसि नगर में धर्म में स्थित प्रजापाल नामक राजा वहाँ निवास करता है। राजनीति में वह चतुर और दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला था॥3-4॥
- 5-6 अर्हत धर्म में अनुरक्त जैसे इन्द्र-इन्द्राणी के साथ रहता है वैसे ही अर्हन्त का भक्त मति सागर सेठ प्रिया गुणवती के साथ वहाँ रहता है। उसके गुण सहित सात पुत्र थे (रिसि-7)। उन सात में से छः पुत्र सेठ की पुत्रियों के साथ विवाहित हुए॥5-6॥

लहुडउ पुत्तु जु गुणहरू वहुलखन सहिउ।
 दिढसम्मत्त सजुत्तउ संकाइय रहिओ॥7॥
 तहि अवसरि संपत्तउ निवइ निविदु जहो।
 पहु वणवालु वि दिट्टउ अ थिउ तेण॥8॥
 सहसकूड चइत्यालइ आयउ मुणिषवरू।
 तेण वि पहु आणंदे वंछिउ लाधु वरू॥9॥

पंचसवद तहि वाजे वंदहु मुणि चलणा।
 चालिय नरवइ पुछिवि हरिसिय सयल जणा॥10॥
 सेठिहि न्हवणु सजोयउ माथइ कलुसु किउ।
 ताह सुणह तह जंपिउ वयणु सुहावणउ॥11॥

इहु संसारू असारउ कयलीगब्भ जिह।
 किंपि न दीसइ सारउ विजुलफुरणु जिहा॥12॥

मुणि पणविवि वउ मागहु दूतरू जिह तरहुं।
 धम्मकज्जि सुंदरियहो हरिसइ चित्त महु॥13॥
 जिण पूजिवि मुणि वंदिवि आषिउ मुणिवरहं।
 सामिय सुवउ उवएसहो जें रक्खउ करहं॥14॥

तं णिसुणिवि जंपइ निसुणहु पुत्ति तुम्हि।
 जा कीए फलु पावहु सुथिए कहिउ अम्हि॥15॥
 पासणाह वउ कीजइ खीरहंधार दह।
 रविदिणु तुम्हि उववासहु वंभचरिउ वि लइं॥16॥
 अह अंविलु इक ठाण उं एयभत्तु णिविडु।
 किज्जइ मणु अणुराइय मेलिवि चित्तु जडु॥17॥

वसुविह पूज रएप्पिणु णवफल पुणु ठवहु।
 अंवविजउरा भावें चुण्हं दइ न वहु॥18॥
 वरिसिवरिसि नवबारहं नववरिसइ करहो।
 आसाढहं आरंभि विदुत्तरू जिमत्तरहो॥19॥

- 7-9 सबसे छोटा पुत्र गुणधर अनेक लक्षणों सहित दृढ़ सम्यक्त्व सहित और शंकादि दोषों से रहित था। उसी समय जहाँ राजा स्थित थे। राजा के उस वनपाल के द्वारा सहस्रकूट चइत्यालय में आये श्रेष्ठ मुनीश्वर स्थित देखे गये। उस राजा के द्वारा भी आनन्दपूर्वक श्रेष्ठ लाभ को चाहा गया॥7-9॥
- 10-11 पाँच वाद्य ध्वनि से मुणी चरणों की वन्दनार्थ चलने के लिए राजा ने सम्पूर्ण लोगों को पूछा सेठ ने अभिषेक के लिए माथे पर कलस रखा। उसकी पत्नी ने वहाँ पर सुहावणी बात कही॥10-11॥
- 12 यह संसार कदली दल के गर्भ के समान असार है कुछ भी सार दिखाई नहीं देता, जैसे चंचल बिजली की चमक में कुछ सार दिखाई नहीं देता॥12॥
- 13-14 मुनि को प्रणाम करके डूबते हुए को पार लगाने वाले व्रत को माँगा। धर्म कार्य में हर्षित चित्त सुन्दरी ने जिनेन्द्र की पूजा करके और मुणी की वन्दना करके मुनि श्रेष्ठ से निवेदन किया। हे स्वामी! पुत्र को उपदेश दो जिसकी रक्षार्थ हाथ से आशीर्वाद दो॥13-14॥
- 15-17 ऐसा सुनकर मुणी कहते हैं हे पुत्र तुम सुनो! जिसे हमने स्थिरता पूर्वक कहा है। जिसके किए का फल प्राप्त करोगे। दुग्धाभिषेक करो पार्श्वनाथ का व्रत करो। ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर रविवार के दिन तुम उपवास करो अथवा आम्लरस, या एक स्थान पर एक बार का आहार चित्त की जड़ता को छोड़कर मन सहित करो (किया जाता है)॥15-17॥
- 18-20 आठ प्रकार की पूजा रचाकर फिर नव फल को स्थापित कर, आम्र और विजउरा (नींबू) रस की भावनाएँ में दे (परन्तु) बहुत नहीं! प्रत्येक वर्ष में नौ बार और नौ वर्ष तक करें। श्रेष्ठ जानकार लोग आसाढ से आरम्भ करें (शुक्ल

अहवा वारहमासहं एकुवरिसु करहो ।
भावे जिनवरू पुज्जिवि णियमणि कह धरहो ॥20॥

गिहि आइवि वउ णिंदिउ भइय विसण्ण मणी ।
चुण्णफलहं वउ आ खिउ किं कीरइ सवणी ॥21॥
सयल लच्छि तिनु नाठी रोय सहिय रहहि ।
उयरू वि पूरि न सकहि कासु वि णउं कहहि ॥22॥

तं पुरू चइवि विएसहि करिवि उवाउ मणे ।
मायवापु घरि छंडिवि गइय ति अवधषनि ॥23॥
तहि जिणदत्तु वणीसरू गुणगण मयरहरो ।
धणपरियणहं संजुत्तउ भूवे कुसुमसरो ॥24॥

सइ वसुमइ पियमंडिउ अमियवयणु चवइं ।
कामभोय सुह भुंजहि जिणवरू णित णवइ ॥25॥
णयर मज्झि सो देषिवि दुक्खदरिद्ध जणु ।
कर जोडिवि सिरू नायवि विनय उ साहु सिहु ॥26॥

तुम्ह पसाय सामिय पेसणु अम्हि करहि ।
करि किरसणु ववहारू वनिज पेट्टउ भरहि ॥27॥
तुहु जि साहु पुन्नाहिउ अम्हहि मणि धरहि ।
लाखदाम कौ षांडउ को सुवि अणुसरइ ॥28॥
जइ न रूषरउ सायण उ गरूवहं मणु हरई ॥29॥

महरु वयणु तुम्ह जंपिउ वयण सुहावण उं ।
वेगि मज्झु घरू आवहु कामु करहु घण उं ॥30॥
रयणि दिवस ते धावहि सुक्खु न लहहि तहि ।
माय वापु घर ज्झुरवहि भयउ वि जोउ जहि ॥31॥

अवहिणाणि तिन्हु पूछिउ धरिणिह धरिवि सिरू ।
पूतहं भयउ विछोहउ दुक्खदलिद्ध भरू ॥32॥

पक्ष के अन्तिम रविवार से)। जीमण कराओ अथवा बारह महीने तक और करो। भाव से जिनेन्द्र की पूजा कर अपने मन में कथा धारण करो॥18-20॥

21-22 घर आकर व्रत निन्दा करके दुःखी मन वाली हुई श्रमणी क्या करती? व्रत में उसने फल वाले चूर्ण को खाया। सम्पूर्ण लक्ष्मी उससे रूठ गई (और) वह रूदन सहित करती है। उदर पूर्ति भी नहीं कर सकती और न ही किसी से कह सकती है॥21-22॥

23-24 मन में उस नगर को छोड़कर विदेश में रहने का उपाय करती है। माता-पिता को घर में छोड़कर क्षणभर में वह अयोध्या चली गई। वहाँ पर गुणसमूहागार और सुन्दर जिणदत्त वणीश्वर धण और परिजनों से युक्त पृथ्वी पर वह कामदेव के समान था॥23-24॥

25-26 प्रीतम से सुशोभित सती वसुमति अमृत वचन कहती है। सुखपूर्वक काम भोगों को भोगो और जिनेन्द्र को नित्य नमन करो। उसने नगर के मध्य में दुःखी और दरिद्र जनों को देखकर और हाथ जोड़कर सिर नवाकर साधु से शीघ्र विनय की॥25-26॥

27-29 हे स्वामी! आपके प्रसाद से हमारे हाथ से कृषि कार्य से उत्पन्न व्यवहार (अनाज) को भिजवाओ जिससे वनिज अपना पेट भरता है। हमारे मन की धारणा है कि हे साधु! आप बहुत पुण्यशाली हो, लक्षाधिपति भोजन के भण्डार हो ऐसा अनुसरण से सुना जाता है। यति रोष नहीं करते, चतुर होते है वे गम्भीर लोगों के मन को हरने वाले होते है॥27-29॥

30-31 आपने मधुर और सुहावने वचन कहे है। आप सब लोग शीघ्रता से मेरे घर आओ और सघन काम करो। वे रात-दिन दौड़-धूप करते है तो भी सुख प्राप्त नहीं करते। जहाँ वियोग हुआ है ऐसे माता-पिता घर में दुःखी होते है॥30-31॥

32-33 उन दुखियों ने पृथ्वी पर अपना सिर रखकर अवधिज्ञानी से पूछा। पुत्रों से हमारा विछोअ हुआ है दुःख दरिद्रता से हम भरे हुए हैं। हे स्वामी! क्या कारण

किं कारणु पहु अक्खहि कहिउ मुणिंद भओ ।
असुह कम्मु तुम्ह आयउ जं वउ णिंदियओ ॥33॥

मण-वय-काय तिसुद्धिए रविवउओ धरहु ।
पुव्व पाउ तुम्ह आयउ जं वउ णिंदियओ ॥34॥
मुणिहि वयणु आयरिओ पासणाहु थुणहि ।
एकचित्ति वउ कीयउ पुव्व जु छंडियओ ॥35॥

संपय तहो घर लीणी दाणु पूज करहि ।
एम कथा को वइयरू वाहुडि गय उ तहिं ॥36॥
सव्वह लहउ जु गुणहरूक्ख धाविया पियउ ।
जीवणु भावज पासहि हसें हसि मागियओ ॥37॥

रूसिवि ताइ सुवुत्तउ वइसिवि भोज कउ ।
घासु लइवि जइ आवहि भोयणु देउ तउ ॥38॥
भावज वयणु न सकिय गुसहि वि कुमारू तहि ।
दातु लइवि तहि चलियउ वणु आरणु जहिं ॥39॥

विवरयाणि खडु वाधिउ छाडिवि दातु भूमि ।
घासु लेइ घरू आयउ कुमरू विसन्नमणु ॥40॥
भायर घरि निब्भंछिउ रे खलवुद्ध मणा ।
वेगि दातु किं न आणहि तहि ठाम रहि कि ना ॥41॥
वासुगि कुमरू वषाणउ आयो तं षणहं ।
वेढि दातु चउ पासहं रहियउ असण मणा ॥42॥

जव भावज निरभंछिउ वालकु गयउ तहि ।
जीवदया प्रतिपालकु विसहरू ठियउ जहिं ॥43॥
अहो फणिंद मणिमंडण विनती करउ तुहि ।
वेगि दातु कइ अप्पहि अहवा डसहि मुहि ॥44॥

अम्ह दोसु जणु भावइ जिणकुलु संपावियओ ।
तुम्ह सरणु हउं आयउ अम्हहं हरहि भओ ॥45॥

है कहो? मुण्डि ने इस भय का कारण कहा तुम्हारा अशुभ कर्म आया है जिससे तुमने व्रत की निन्दा की है॥32-33॥

34-35 इसलिये मन-वचन-काय की त्रिशुद्धि से रविव्रत धारण करो। जब पूर्व का पाप आता है तब णिंदा करते हैं। मुनि के वचनों का आचरण करो और पार्श्वनाथ की स्तुति करो। पूर्व में जो किया है उसका त्याग करके एकाग्रचित्त से व्रत को करो॥34-35॥

36-37 दाण और पूजा करने से उसका घर-सम्पत्ति से लीन रहता है। इस कथा के वृत्तान्त को चलाकर वह वहाँ गया। सब में छोटा गुणधर अपने माता-पिता की और दौड़ा। जीमने के लिए भाभी के पास हँसी-हँसी में भोजन माँगा॥36-37॥

38-39 क्रोधित होकर उसने कहा बैठो भोजन करो। यदि घास लेकर आओगे तो भोजन दूँगी। भाभी के वचनों को सहन न कर गुस्से में कुमार वहाँ से कुल्हाड़ी लेकर जहाँ वण और जंगल था वहाँ गया॥38-39॥

40-42 दुःखी मन से घास बाँधकर भूमि पर कुल्हाड़ी को छोड़कर, घास लेकर कुमार घर आया। भाई के घर में तिरस्कृत से दुष्ट बुद्धि मन वाले शीघ्रता से कुल्हाड़ी क्यों नहीं लाता? क्या वह उस स्थान पर नहीं रही। जैसे ही कुमार ने सर्पराज गरूड का नाम लिया कि वह तत्क्षण आया। कुमार को खाने के मन से उसने चारों ओर से घिरी हुई कुल्हाड़ी को अपने से रहित कर दिया॥40-42॥

43-44 जब भाभी ने उसका तिरस्कार किया तो बालक जीवदया को पालने वाला जहाँ विषधर मौजूद था वहाँ गया। अहो! मणि से मण्डित फणिन्द्र की तुम विनती करो। शीघ्र कुल्हाड़ी को अर्पित कर दो अथवा मुझे डस लो॥43-44॥

45-47 जिनेन्द्र के कुल में हमें दोष मत दो। जिनेन्द्र का कुल भली प्रकार से प्राप्त करके हमें दोष मत लगाओ। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। हमारे भय को दूर

इय वयण नु घरणंदे आसणु चलिउ तहिं ।
जासु पियर जिण पूजहि अम्ह सेव करहिं ॥46॥
क्खीरद्धार नित न्हावहि रविवउ उद्धरहिं ॥47॥

तसु वालक हिउ वथा वाडइ गरूव भओ ।
एम भणिवि फणि चलयिउ पदमावति सहिउ ॥48॥
हा हा कुमर म डंकहि वालउ गुण भरियओ ।
इहु के सत्थहु आसणु महु सुय थरहरिओ ॥49॥

तसु भणेविणउ विंवु पंचकल्लाण मओ ।
मोतिय हारू सुहावइ वालहो अपियओ ॥50॥
अवरइ पंच पदारथ सोवण दातु षणि ।
लेहि वाउ भूविलसहि संक न करहि मनि ॥51॥

लेवि कुमरू घरि आयउ अप्पिउ वंधवहं ।
देषिवि वंधव कंपिय निय भव वसगयहं ॥52॥
कहिउ तेण वित्तंतु सयलु आणंदमणु ।
रहसेंअंगि न माइय मंदिर ठविउ जिणु ॥53॥

सेव करहि तहि अणुदिणु पूजहि देइ मणु ।
दाणु देहि चउ संघहं विणयसंजूत मणो ॥54॥
भयउ अचंभउ सयलहं णरवइ मणि भयउ ।
जे दारिद्ध करालिय आईय महु णयरे ॥55॥

तिन्हु घरि संपइ लीणी इन्हु कहिं पाइयओ ।
णिसुणेवि पहु किंकरगणु तुरतहं घाइयओ ॥56॥
तुम्ह पुणु राउह कारइ वेगे चलहु किना ।
लेपिणु अरथु पदारथु वि लवहु षणु वि जिणा ॥57॥
महुर वयणु तिन्हु वोलिउ सव्वइ लेहु कि ना ।
मि सव थुअ पहु किंकर म करहु किलेसु जि ना ॥58॥

करो। इन वचनों से वहाँ घर में आनन्द से आसन चलायमान हुआ। जिसके माता-पिता जिनेन्द्र की पूजा करते हैं और हम सेवा करते हैं दूध की धारा से नित अभिषेक कर रविव्रत का उद्यापन करते हैं॥45-47॥

48-49 उस बालक की कथित स्थिति से बाड़े का वह प्रधान हुआ। ऐसा कहकर नागराज पदमावती के साथ चला गया। हाय-हाय कुमार को डसकर उसमें बालक के गुण भर दिये। ये कौनसा प्राणी है जिसने मेरा आसन भली प्रकार कंपित कर दिया॥48-49॥

50-51 ऐसा कहकर पंच कल्याण मयी बिम्ब मोतियों के हार से सुशोभित बालक के लिए अर्पित कर दिया और दूसरे पाँच पदार्थ स्वर्णमय कुल्हाड़ी क्षणभर में लेकर पृथ्वी पर वायु के समान सुशोभित रहो मन में शंका मत करो॥50-51॥

52-53 उसे लेकर कुमार घर आया और उसने बन्धुजनों के लिए अर्पित किया। बन्धु देखकर काँपे और अपने संसार में रहने के स्थान पर गये। आनन्दित होकर उसके द्वारा सारा वृत्तान्त कहा गया। हर्ष उनके अंगों में नहीं समाया। उन्होंने जिण मन्दिर में मूर्ति स्थापित कर दी॥52-53॥

54-55 प्रतिदिन उनकी आराधना करते हैं मन लगाकर उनकी पूजा करते हैं। विनय युक्त मन से चार संघ को दान देते हैं। सभी के और राजा के मन में अचम्भा हुआ। जो दरिद्रता से लिप्त है वे मेरे नगर में आये॥54-55॥

56-58 वे गरीब घर से सम्पत्ति ले इन्होंने कहीं से पाई है। ऐसा सुनकर राजा के दास समूह ने तुरन्त घात किया और तुम्हें राजा बनाकर क्या वेग से चला नहीं गया। अरथ पदारथ को लेकर क्षणभर जिनेन्द्र के पास रहता है और मधुर वचनों से उसने कहा सब लेते हो की नहीं। हम सब राजा के किकर नौकर हैं क्लेश मत करो॥56-58॥

धरणेंदे अम्ह अप्पिय पर तउ पूरियओ।
 सुणिवि राउ मणि हरिसिउ वालउ पुंनु अहिउ ॥59॥
 अछइ जहि लडहंगी जा सुकुमार धुव।
 कदलीगभ मणोहर दिण्णिय तुज्झु सुव ॥60॥

सुहदिण लगनु पतिठउ मंडपु तिह रयओ।
 रयणथंभ की चौरी बहुवरू तहि ठयओ ॥61॥
 वेईय मंगलकलसहि मंगलगीय सरू।
 कामिणि रहसी नाचहि वज्जहि तूरभरू ॥62॥

वीतउ व्याहु कुमारिहिं जणु आणंदियओ।
 दाइज्जउ बहु दीनउ बहु वरू संसियउ ॥63॥
 जं जं भुवणहं दुल्लहु तं पुण्णें सलहु।
 पुण्णु करहो अहो लोयहो सग्गु मोक्खु लहहो ॥64॥

रूवरिद्धि सुह संपइ एयइ को गहणु।
 जासु पसाएं लब्भइं लोय सिहरि भवणु ॥65॥
 केतिय दिवस विलंवि वि पुणु पहु विण्णविउ।
 तुम्ह पुणु अम्हहं सामिय बहु उवायरू किओ ॥66॥

तुम्ह पसाएं लाधउ नारी रयणु तिम।
 अवरू मया करिस मदहु कुटवहं मिलहि जिम ॥67॥
 समद त पहु विलखा नउ दुमणु चित्तु कहइ।
 जइ धिय खरिय पियारी पिय हरि नउ हरइ ॥68॥

इम चिंतेपिणु पहुणा समदि उ सयल जणु।
 चाउरंगुवलु चलियउ सलहहि वंदिगणु ॥69॥
 धूलिहि सूर ण सुज्झइ वाणरसि गमणि ॥70॥

पंचमसवद तहिं वाजहिं सिगिरिय छत्तु बहु।
 उपरापर जण णिवडहि संकइ चलण पहु ॥71॥
 वाणारसिहि पहु त उववाणि आइरिया।
 णं सग्गहु सुर आइय पुण्णहि ते वलिया ॥72॥

- 59-60 धरणेन्द्र के द्वारा हमें अर्पित कर दिया गया है। राजा ने ऐसा सुनकर मन में हर्षित होकर कहा बालक अधिक पुण्यवान है। जहाँ हमारी लाड़ली सुकुमार पुत्री अच्छी तरह रहे। कदली के गर्भ के समान सुन्दर मैंने तुझे अपनी पुत्री दी॥59-60॥
- 61-62 शुभ दिन में लगण पहुँचाया और मण्डप रचाया गया। बहुत सुन्दर रत्नों के स्तम्भ की चउरी वहाँ स्थापित की गयी। शीघ्रता से मंगल कलश रखा और मंगल गीत गाये। कामिनी हर्षपूर्वक नाचती है और तूरही बजायी जाती है॥61-62॥
- 63-64 कुमा का ब्याह होने पर लोग आनन्दित हुए। बहुत से दीनों को बहुत दान दिया गया और श्रेष्ठता से प्रशंसा की गयी। जो-जो संसार में दुर्लभ था वह सब उसने पुण्य से प्राप्त किया। अरे! पुण्य करके लोक के स्वर्ग व मोक्ष को प्राप्त किया॥63-64॥
- 65-66 रूपरिद्धि, सुख-सम्पत्ति को इसके समान कौन पाने वाला है। जिसकी प्रसन्नता से लोक का शिखर भवन प्राप्त होता है। कुछ दिन वहाँ रहकर और फिर राजा को प्रणाम करके फिर तुमने हमारे स्वामी का बहुत उपकार किया॥65-66॥
- 67-68 तुम्हारी कृपा से नारी रत्न प्राप्त हुआ और जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी मदपूर्वक कुटुम्ब से मिलता है वैसे ही राजा भी बिलखते हुए दुःखी मन और चित्त से कहता है। यदि पुत्री बहुत प्यारी है तो वह प्रिय को नहीं हरेगी॥67-68॥
- 69-70 इस प्रकार राजा के द्वारा विचारकर सभी लोगों को समधी बनाया। चतुरंगिणी सेना चली और सभी वंदिगण प्रशंसा गाते है और बनारस के गमण काल में धूल से सूर्य भी नहीं दिखता है॥69-70॥
- 71-72 वहाँ पर पाँच प्रकार के बाजे बजते है शिखर पर अनेक छत्र है। राजा के चलने की शंका से एक के ऊपर एक मनुष्य गिरते है। वाणारसी राजा उस वन में आया जैसे पुण्य से बलवान स्वर्ग से देवता आये हो॥71-72॥

सेठिहि गय उ वधावओ पूतहं आगमणे ।
 णिसुणि वात मण रहसि य वेगे गईय वणि ॥73॥
 खणिखणि आ कौ भेदहि खणि पायहिं पडहिं ।
 खणि जिणु पासु पसंसहि खणि गायहि णडहिं ॥74॥

उछवि आइय मंदिरि परिमिय सयणगणा ।
 भउ संजोउ वहु दिवसहिं तूटे पावरिणा ॥75॥
 मुणिहि वि अइसउ जाणिवि दिहु करि वउ धरहिं ।
 दाणु पूय सुपयासहि जिणु सामिउ सरहि ॥76॥

अइसउ वउ उपदेसि उ पुरजण मण धरिउ ।
 णिय-णिय सत्तिये लोयहु रविवउ उ धरिओ ॥77॥
 सग्गु मोक्खु तियकर यलि सेठिहिं फुडु कियओ ।
 भव तिहि पंचहि मज्झेहि सिवपुर आजियओ ॥78॥

भव्वुजीउ जो दिहु करि रविवउ पालिसइ ।
 सो सिव सोक्खु लहेसइ भउ न निहालि सइ ॥79॥
 वज्झहं पुत्तु समप्पइ रोरह भूरि धणु ।
 वहिरहं कन्न अनोवम अंधहं दुह णयणा ॥80॥

रविवउ लोय अपूरवु संसउ मत करहो ।
 णिच्छउ करि फलु जाणि भाविय होउ धरहो ॥81॥
 भवियहो हउ जु अयाणउ मइ ण छंदु मुणिओ ।
 अम्ह दोसु मत लावहु मत्तिहीणें भणिओ ॥82॥

पास जिणेंद पसायहं दिवसिह इउ कहइ ।
 पंडिय सुरिजणु पासहं भत्तउ वउ लहइ ॥83॥
 जो यहु पढइ पढावइ णिसुणइ कन्नु दइ ।
 सो जसु कित्ति पसंसिय पावइ परमगई ॥84॥

- 73-74 सेठ गया और पुत्र के आगमण पर बधाई देता है। ऐसी बात सुनकर मन में आनन्दित होकर शीघ्र वन में गया। क्षण-क्षण में आकर कौन भेद से क्षण भर में पैरों में पड़ता है। क्षणभर में जिनेन्द्र के पास जाकर प्रशंसा करता है। क्षण में गाता है, क्षण में नाचता है॥73-74॥
- 75-76 उत्साह करता है। मन्दिर में आकर सज्जनों के समूह से परिमित बहुत दिनों में यह संयोग हुआ पापरूपी शत्रुता टूटे। मुनियों के द्वारा ऐसा जानकर दृढ़तापूर्वक व्रत को धारण करो। दाण पूजा के अच्छे प्रयास से जिनेन्द्र स्वामी की सराहना करो॥75-76॥
- 77-78 ऐसे व्रत का उपदेश नगर के लोगों ने मन में धारण किया। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार रविव्रत धारण करो। उस व्रत का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष सेठ को शीघ्र दिया गया। संसारी उन पाँचों के मध्य में सिवपुर में आकर जीता है॥77-78॥
- 79-80 जो भव्य जीव दृढ़तापूर्वक रविव्रत को पालेंगे वह सिव मोक्ष को पायेंगे। उसमें भय मत देख। बाँझ पुत्र के समर्पित करेगी। अनेक प्रकार के कष्ट धारण कर बधिर के कान, निर्धनों को धन, अन्धों के लिए अनुपम दोनों नेत्र देगा॥79-80॥
- 81-82 इस लोक में रविव्रत अपूर्व है संशय मत करो। निश्चय से फल जानों। भावना करके धारण करने वाले होओ। हे भविकजनों मेरे द्वारा अज्ञानता की गयी है। मैं अज्ञानी हूँ। छन्द नहीं जानता हूँ। मुझे दोष मत देना, मुझे बुद्धिहीण कहना॥81-82॥
- 83-84 पार्श्व जिनेन्द्र के प्रसाद से दिवसेह यह कहता है। पण्डित, देवलोग, पार्श्व के भक्तों व्रत को धारण करो। जो यह पढ़ता है, कान देकर सुनता है वह यश, कीर्ति, प्रशंसा और परमगति को पाता है॥83-84॥

योगसार दोधक

- जोगचन्द मुणि



1. णिम्मल झाण परिट्टिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा तद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि॥1॥
2. घाइ चउक्कइ किउ विलउ णंत चउक्क पदिट्टु।
तहं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्टु॥2॥
3. संसारहं भयभीयाहं मोक्खहं लालसियाहं।
अप्पा संबोहण कयहं दोहा एक्कमणाहं॥3॥
4. काल अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणि मोहियउं ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु॥4॥
5. जइं वीहिउ चउगइ गमण तो परभाव चएहि।
अप्प भावहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्खु लहेहिं॥5॥

योगसार दोधक

संपा.-अनु.- डॉ. रामसिंह रावत



1. निर्मल ध्यान में स्थिर हुए, कर्म रूपी कलंक को जलाकर जिनके द्वारा उत्कृष्ट आत्मा को पा लिया गया है उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके.....
2. (जिन्होंने) चार घातीय कर्मों को ही क्षय किया है (तथा) अनन्त चतुष्टय को प्रमाण से जाना है (उन) जिनेन्द्रों के पदों को नमन करके (मैं) सत्कृत काव्य कहता हूँ।
3. संसार से (भटकने से) भयभीत होने वालों के लिए, मोक्ष की लालसा वालों के लिए, आत्मा के सम्यक सम्बोधन के लिए, एकाग्र चित्तों के लिए दोहों की (रचना करता हूँ)।
4. काल अनादि है, जीव अनादि है। भवसागर भी अनन्त है। मिथ्यादर्शन में मोहित हुए (व्यक्तियों को) सुख नहीं (वरन्) दुःख ही प्राप्त हुआ है।
5. यदि चतुर्गति गमण से भयभीत हो तो पर भाव को छोड़। निर्मल आत्मा का चिन्तन कर जिससे (तुझे) मंगलमय सुख प्राप्त हो।

6. तिप्पयारु अप्पा मुणहिं परु अंतरु वहिरप्पु।
परु भावहिं अंतर सहिओ चाहि रुच वहि निभंतु ॥6॥
7. मिच्छादंसणि मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।
सो वहिरप्पा जिण भणिउं पुणु संसारु भमेइ ॥7॥
8. जो परिजाणइ अप्पु परु जो परभाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणइ जो संसारु मुचेइ ॥8॥
9. णिम्मलु णिवकलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिण भणिया एहउ जाणि निभंतु ॥9॥
10. देहादि खु जे पर कहिया जो अप्पाण भुणेइ।
सो वहिरप्पा जिण भणिओ पुणु संसारु भमेइ ॥10॥
11. देहादि षु जे पर कहिया ते अप्पणा णु हुंति।
इउ जाणेविणु जीव तुहं अप्पा अप्पु मुणंति ॥11॥
12. अप्पा अप्पउ जे मुणहिं तो णिव्वाणु लहेहिं।
परु (अप्परु) अप्पउ जउ मुणहिं तुहं तो संसारु भमेहिं ॥12॥
13. इच्छारहियउ तउ करहिं अप्पा अप्पु मुणेहिं।
तो लहु पावहिं परम गइ फुडु संसारु मुएहिं ॥13॥
14. परिणामें बंधु जि कहिऊ मुक्खु वि तहिं जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहं तहिं भावहि परियाणि ॥14॥
15. अह पुणु अप्पा ण वि मुणहिं पुणु जु करहिं असेसु।
तो वि ण पावहिं सिद्धि सुह पुणु संसारु भमेसु ॥15॥

6. आत्मा के तीन प्रकार समझो- पर (पूर्ण परमात्मा), अंतर (अन्तरात्मा) और वहिरप्पु (वहिरात्मा) निस्संकोच (होकर) वहिरात्मा में रुचि छोड़ (और) अन्तरात्मा सहित परमात्मा का चिन्तन कर।
7. मिथ्यादर्शन में मोहित (जो प्राणी) परम आत्मा को नहीं समझता है, जिनेन्द्र ने वहि-रात्मा कहा है वह बार-बार संसार में भरभता है।
8. जो आत्मा (और) पर को सर्वतोभाव से जानता है। जो परभाव को त्यागता है, आत्मा को समझता है। जो संसार को छोड़ता है। वह पण्डित है।
9. निर्मल है, अखण्ड है, शुद्ध है, जिण है, विष्णु है, बुद्ध है, शिव है, सन्तुष्ट है। जिण द्वारा वह परमात्मा कहा गया है। निस्सन्देह ऐसा (तुम) जानो।
10. जिन्होंने देहादि को निश्चय रूप से पर (श्रेष्ठ) कहा है, जो आत्मा को नहीं समझते हैं। जिण द्वारा वहिरात्मा कहा गया है, वह बार-बार संसार में भरभता है।
11. जिन्होंने देहादि को निश्चय ही पर (श्रेष्ठ) कहा है वे आत्मा के नहीं होते हैं। इसे जानकर हे जीव तू अपने को आत्मा समझता है।
12. जो आत्मा को आत्मा मानते हैं तो निर्वाण को पाते हैं। यदि पर को परमात्मा मानो तो तुम संसार में भरभो।
13. इच्छारहित तप कर। आत्मा को आत्मा समझ। नश्वर संसार को त्याग तो शीघ्र परम गति को प्राप्त कर।
14. (भाव के) परिणमन से ही (कर्म का) बन्ध कहा गया है। उसी तरह से मोक्ष को भी जान। हे जीव! ऐसा समझकर तू उन भावों से पहचान कर।
15. अथवा बार-बार आत्मा को न जानो, बार-बार सर्व (पुण्य कार्य) भी करो तो भी सिद्धि-सुख नहीं प्राप्त हो, संसार में बार-बार भटकते रहो।

16. अप्पादंसणि इक्कु परा अणु ण किंपि वियाणि।
मोक्खह कारणि जोइयाणिं णिच्छइ एहउ जाणि॥16॥
17. मग्गण गुणट्ठाणइं भणिया ववहारेणय दिट्ठि।
णिच्छइणइ अप्पु मुणहिं जिम पावहि परमेट्ठि॥17॥
18. गिहिवावार पसिट्ठिया हेय हिउ मुणंति।
अणु दिणु झावहिं देउ जिणु लहु णिण्वाणु लहंति॥18॥
19. जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु जिणु झावहु समणेण।
जो झायंतहं परमपओ लवुइ लद्धइ इक्क खणेण॥19॥
20. सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किंपि चियाणि।
मोक्खहं कारणिं जोइया णिच्छइ एहु वियाणि॥20॥
21. जो जिणु सो अप्पा मुणहिं इहु सिद्धंतहं सारु।
इउ जाणेविणु जोइयहु छंडहु मायाचारु॥21॥
22. जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइयहु अणु म करहु वियप्पु॥22॥
23. सुद्ध पएसहं पूरियउ लोयायास पमाणु।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु पावईह लहु णिण्वाणु॥23॥
24. णिच्छय लोयपमाणु सुप्पा ववहारें ससरीरु।
एहउ अप्प सहाउ मुणि लहु पावहि भवतीरु॥24॥
25. चउरासी लक्खहं भमाओ कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्तु ने लद्धु जिया एहउ जाणि निभंतु॥25॥

16. आत्मदर्शन में एकमात्र (आत्मा) श्रेष्ठ है। अन्य कुछ भी नहीं है। (ऐसा) जान! हे जोगी! (अन्य कुछ भी) नहीं है। निश्चयपूर्वक इसको मोक्ष का हेतु समझ!
17. व्यवहार न्याय की दृष्टि में भगिणा (व) गुणस्थानक कहा गया है। निश्चय न्याय में आत्मा को जान जिससे परमेष्ठि के पद को प्राप्त कर।
18. (जो) गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं। हेय (और) उपादेय को समझते हैं। प्रतिदिन जिणदिव्यात्मा को ध्याते हैं, (वे) शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करते हैं।
19. जिण देव का स्मरण करो। जिण भगवान का चिन्तन करो। मन सहित से जिनेन्द्र का ध्यान करो। (जिनेन्द्र का ध्यान) जो करता है (वह) परमपद को एक क्षण में प्राप्त करता है।
20. हे जोगी! शुद्ध आत्मा और जिनवर का कभी भी भेद मत जान। इसको निश्चय न्याय से मोक्ष को हेतु जान।
21. जो जिनेन्द्र है वह आत्मा है (यह) जान। यह सिद्धान्त (आगम) का सार है। इसे जानकर हे योगी! मायाचार को छोड़।
22. हे जोगी! जो परमात्मा है वह मैं ही हूँ। जो मैं हूँ वह परमात्मा है। इसको जानकर अन्य विकल्प मत कर।
23. (जो) लोकाकाश प्रमाण शुद्ध प्रदेशों से पूरित है, वह आत्मा है। प्रतिदिन (उसको) जान (और) शीघ्र निर्वाण को प्राप्त कर।
24. निश्चय नय से शुद्धात्मा लोकप्रमाण है। व्यवहार नय (की दृष्टि) से सशरीर (प्रमाण) है। इसको आत्मा का स्वभाव जानकर शीघ्र संसार तट को प्राप्त कर।
25. अनादि काल (से) अनन्त (काल तक) (जीव) चौरासी लाख योनियों (में) भटक रहा है। परन्तु सम्यक्त्व न प्राप्त किया गया। हे जीव! निस्संकोच इस (बात) को जान।

26. सुद्ध सचेयणु बुद्धु जिणु केवल णाण सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहं जइ चाहहु सिवलाहु ॥26॥
27. जाम ण भावहिं जीव तुहं णिम्मल अप्प सहाउ।
ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावइ तहिं जाउ ॥27॥
28. जो तइ लोयहं झेउ जिणु सो अप्पा निरु वुत्तु।
णिच्छय णय एवइ भणिओ एहउ जाणि निभंतु ॥28॥
29. वउ तउ संजमु सीलु गुणु मूढहं मोक्खु न वुत्तु।
जाम ण (जाणइ) इक्कु परा सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥29॥
30. जइ णिम्मलु अप्पा मुणइं वय संजम संजुत्तु।
तो लहु पावइ सिद्धि सुहु इउ जिणणाहहं वुत्तु ॥30॥
31. वउ तउ संजमु सीलु जिया इउ सव्वु वि अकयत्थु।
जाम न जाणइ इक्कू परा सुद्धउ भाउ सयत्थु ॥31॥
32. पुण्णि पावइ सग्गु जिया पवि नरय निवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिववासु ॥32॥
33. वउ तउ संजमु सीलु जिया इहु सव्वु वि ववहारु।
मोक्खह कारणु (एक्क) मुणि जो तइ लोयहं सारु ॥33॥
34. अप्पा अप्पे जो मुणइ जो पर भाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरि गमणु जिणवरु एम भणेइं ॥34॥
35. छह दव्वइं जे जिण कहिया जणव पयत्थ जे तत्व।
ववहारे जिर उत्तिया ते जाणि यहि पयत्त ॥35॥

26. वह आत्मा शुद्ध है, सचेतन है, बुद्ध है, जिण है, केवलज्ञान स्वाभावी है। यदि मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो (तो) प्रतिदिन (उस आत्मा का) मनन कर।
27. हे जीव! जब तक निर्मल आत्म-स्वभाव की भावना नहीं करते हैं तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। जहाँ अच्छा लगता है वहाँ तू जा।
28. जो तीन लोकों का ध्याता जिनेन्द्र है वह आत्मा है, निश्चय से कहा गया है। निश्चय नय से ऐसा ही कहा गया है। इस (बात) को सन्देहरहित जान।
29. जब तक एक श्रेष्ठ शुद्ध पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता (तब तक) अज्ञानी का (किया गया) व्रत, तप, संयम, गुण मोक्ष नहीं कहा गया है।
30. यदि व्रत संयम संयुक्त निर्मल आत्मा का अनुभव करता है तो सिद्धि सुख को शीघ्र प्राप्त करता है। ऐसा जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है।
31. हे जीव! जब तक एक उत्कृष्ट, शुद्ध, स्वप्रयोजन भाव का अनुभव नहीं करता है (तब तक) व्रत, तप, संयम, शील ये सब ही अप्रयोजनीय हैं।
32. जीव पुण्य में स्वर्ग पाता है, पाप में नरक-निवास (करता है)। (पुण्य और पाप) दोनों को छोड़कर (जो) आत्मा का मनन करता है तो शिववास (मोक्ष) को प्राप्त करता है।
33. हे जीव! व्रत, तप, संयम, शील यह सब ही व्यवहार (चारित्र) हैं। मोक्ष का कारण एक (निश्चय चारित्र) जान जो तीनों लोकों का सार है।
34. जो परभाव को छोड़ता है, जो आत्मा से आत्मा का अनुभव करता है वह मोक्ष नगर राह को प्राप्त करता है। जिणवर यह कहते हैं।
35. जिनेन्द्र ने जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ (और) जो सात तत्त्व कहे हैं वे व्यवहार नय से जिनवर ने कहे हैं। प्रयत्न करके निश्चयपूर्वक उनको जान।

36. सव्व अच्चेयण जाणि जिया एक्कु सचेयणु सारु।
जो जाणेविणु परम मुणि लहु पावहिं भव पारु॥36॥
37. जइ णिम्मलु अप्पा मुणहिं छंडिवि सहु ववहारु।
जिणु सामिउ एमइं भणइ णहु पावहिं भवपारु॥37॥
38. जीवाजीवहं भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहं कारणि एउ भणइ जोइ जो(इ)हिं भणिउ॥38॥
39. केवल णाण सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहं।
जइ चाहहि सिवलाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिउ॥39॥
40. कासु समाहि करउ को अंचउ छोब्भु अछोब्भु भणिवि को वंचउ।
हल सउ कलहु केण सम्माणउ जहिंजहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ॥40॥
41. ताम कुत्तिथइं परिभमइ युत्तिमताइं करेइं।
गुरु व पसाए जाम णवि देहहं देउ मुणेइ॥41॥
42. तित्थहं देउलि देउ नवि इम सुइ केवलि वुत्तु।
देह देवलि देउ जिणु एहउ जाणिं निभंतु॥42॥
43. देहा देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं निवेइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धिहिं भिक्ख भमेइ॥43॥
44. मूढा देवलि देउ णवि णवि सिल लिप्पइ चित्ति।
देहा देउलि देउ जिणु सा बुज्झहि सम चित्ति॥44॥
45. तित्थइ देवलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा देवलि जो मुणइ सो वुहु को वि हवेइ॥45॥
46. जइ जर मरण करालियउ तो जिण धम्मु करोहि।
धम्मु रसायणु पियहि जिया जिम अजरामरु होइ॥46॥

36. सब (पुद्गलादि पाँच द्रव्यों) को अचेतन जान। एक जीव सचेतन का सार है। जिसको जानकर परम मुनि संसार-पार को शीघ्र प्राप्त करते हैं।
37. जिनेन्द्र स्वामी ऐसा कहते हैं, यदि व्यवहार संग छोड़कर निर्मल आत्मा का अनुभव करता है (तो) शीघ्र संसार-पार प्राप्त होता है।
38. हे जोगी! योगियों ने कहा है- जो जीव-अजीव के भेद को जानता है उसने मोक्ष का साधन जाना है। ऐसा कहा गया है।
39. हे योगी! योगियों द्वारा कहा गया है (कि) केवलज्ञान स्वभावी वह आत्मा है। तू (उसको) जीव जान। यदि मोक्ष-लाभ चाहो, (ऐसा) कहता है।
40. किसकी समाधि ली गई? कौन पूजा गया? सज्जन-दुर्जन कहकर कौन ठगा गया? किसके द्वारा मैत्री-कलह सम्मानित हुई है? जहाँ-जहाँ देखा वहाँ आत्मा है।
41. गुरु के प्रसाद से ही जब तक देह के देव को नहीं पहचानता तब तक कूतीर्थों का परि-भ्रमण करता है, (और) धूर्त आचरण करता है।
42. श्रुत केवली ने ऐसा कहा है (कि) तीर्थों के देव मन्दिर में देव नहीं है। निस्संकोच ऐसा जान (कि) देह-मन्दिर में जिनदेव हैं।
43. जिणदेव देह रूपी देवालय में है। मनुष्य (उसे) मन्दिरों में खोजता है। मुझे हास्यास्पद प्रतीत होता है (कि) इस (लोक में) सिद्धि होने पर भीख के लिए फिरता है।
44. हे मूर्ख! देव मन्दिर में नहीं है। न ही (देव) पाषाण लेप (अथवा) चित्र में है। जिनेन्द्र देव देह रूपी मन्दिर में हैं। उसका समचित्त में साक्षात्कार कर।
45. सब कोई ही कहते हैं (कि) तीर्थों रूपी मन्दिर में जिनदेव हैं। जो देह रूपी मन्दिर में मानता है वह कोई ज्ञानी ही होता है।
46. यदि जरा-मरण से भयभीत हैं तो जिण धर्म को (धारण) कर। हे जीव! धर्म रसायण को पी जिससे अजर-अमर होता है।

47. धम्मु न पढियइं होइ न पोथा पिछियइ।
धम्मु न मढिय पएसि न मत्था लुचियइं ॥47 ॥
48. राय रोस वे परिहरि वि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पंचम गइ लेइ ॥48 ॥
49. आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसाहु गलइ।
मोहु फुरइ णवि अप्पहिउ इम संसारु भमेइ ॥49 ॥
50. जेहउ मणु विसयहं रमइ तिम जइ अप्पु मुणेइ।
जोइ भणइ रे जोइयहु लहु णिणवाणु हे लेइ ॥50 ॥
51. जेहउ जज्जरु नरय घरु तेहउ बुज्जि सरीरु।
अप्पा भावहिं णिम्मलउ लहु पावहिं भवतीरु ॥51 ॥
52. धंधइ पडियउ सयलु जगु णिंवि अप्पाणु मुणंति।
तहिं कारणिए जीव फुडु णवि णिणवाणु लहंति ॥52 ॥
53. मणु इंदियहिं विच्छोहियइ बुहु पुच्छियइ न कोइ।
रायहं पसरु निवारियइ स(ह)जहि उपज्जइ सो(इ) ॥53 ॥
54. पुगलु अण्णु वि अण्णु जिउ अण्णु वि सव ववहारु।
चयहिं जि पुगलु गहहिं जिउ लहु पावहिं गवपारु ॥54 ॥
55. जे णवि मणहिं जीव फुडु जे णवि जीवउ सुणंति।
तो जिणणाहहं उत्तिया णवि संसारु मुयंति ॥55 ॥
56. रयण दीउ दिणयर दहिउ, दुद्धु घाउ पहाणु।
सुण्णउ रूप्पउ फलिहउ णवि दिइंता जाणि ॥56 ॥

47. (शास्त्र) अध्ययन में धर्म नहीं होता है। (धर्म) न पोथा (व) पीछी में है। मठ-प्रदेश में धर्म नहीं है (और) न केशलोचन में है।
48. राग-द्वेष दोनों को छोड़कर जो आत्मा में बसता है, जिण द्वारा कहा गया है वह धर्म ही है जो पंचम गति मोक्ष ग्रहण करता है।
49. आयु गलती है, मन नहीं गलता है, (किन्तु) न ही आसा गलती है। मोह (फैलता) प्रकट होता है (किन्तु) आत्म-हित नहीं (होता है) इस प्रकार (जीव) संसार में भरमता है।
50. योगी कहता है रे योगीजनों! जिस प्रकार मन विषयों के (संग) रमता है, उसी प्रकार यदि (मन) आत्मा को समझता है (तो) निश्चय ही शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।
51. जैसे नरक का घर (दुःखों) से जर्जर है तैसे शरीर को समझ। निर्मल आत्मा का ध्यान कर (जिससे) शीघ्र संसार-तट को प्राप्त कर।
52. सकल संसार धन्धे में (लोक व्यवहार में) पड़ा हुआ है। आत्मा को नहीं समझते हैं। इसी कारण से जीव निर्वाण को नहीं पाते हैं। यह स्पष्ट है।
53. मन इन्द्रियों से ही विरक्त हुआ है (तो) कोई बुद्धिमान पूछा ही नहीं जाता। राग का फैलाव ही रोका जावे (तो) वह (आत्मज्ञान) सहज ही में पैदा होता है।
54. पुद्गल अन्य है, जीव भी अलग है, सब व्यवहार भी न्यारे हैं। पुद्गल को ही छोड़, जीव को ग्रहण कर। शीघ्र संसार तट (मोक्ष) को प्राप्त कर।
55. जो स्पष्ट रूप से जीव को नहीं समझते हैं, जो जीव का अनुभव भी नहीं करते हैं तो (वे) संसार को भी नहीं छोड़ते हैं। जिननाथ का कथन है।
56. रत्न, दीप, सूर्य, दही-दूध, घी, पाषाण, सुवर्ण, चाँदी, स्फटिक मणि- नौ दृष्टान्तों से (जीव) को जान।

57. देहादि खु जे परु मुणहिं जेहउ सुद्ध अयासु।
सो लहु पावइ वंभपरु केवल करइ पयासु॥57॥
58. जेहउ सुद्ध अयासु जिया तेहउ अप्पा बुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिया अप्पा चयणवंतु॥58॥
59. नासग्गि अब्भतरहं जे जोवहि असरीरु।
बाहुडि जम्मि न संभवहिं पिवहिं न जननी खीरु॥59॥
60. असरीरु वि ससरीरु मुणि इहु सरीरु जडु जाणि।
मिच्छा मोहु परिचयहिं मुत्ति णियविणि माणि॥60॥
61. अप्पइं अप्पु मुणंतयहं किन्नेहा फलु होइ।
केवल णाणु वि परिणवइ सासय सुक्ख लहेइ॥61॥
62. जे परभाव चएवि मुणिं अप्पा अप्पु मुणंति।
केवल णाण सरुव लइ ते संसारु मुचंति॥62॥
63. धणा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति।
लोयालोय पयासयरु अप्पा अप्पु मुणंति॥63॥
64. सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ।
सोलहु पावइ सिद्धि सुहु जिणवर एउ भणेइ॥64॥
65. विरला जाणहिं तत्तु बुहा विरुला णिसुणहिं तत्तु।
विरल झायहि तत्तु जिया विरला धारहिं तत्तु॥65॥
66. इहु परियणु ण हु अप्पणउ इहु सुहु दुहु वद्धेउ।
इय चिंतंतहं किमिं करइ लहु संसारहं छेउ॥66॥

57. जैसे आकाश शुद्ध है (अप्रभावित है) (वैसे ही) जो देहादि को निश्चय रूप से (आत्मा से) पर मानता है, वह शीघ्र परब्रह्म स्वरूप को पाता है (तथा) केवलज्ञान का प्रकाश करता है।
58. हे जीव! जैसे आकाश शुद्ध है वैसे आत्मा को कहा गया है। हे जीव! आकाश को भी (जड़) अचेतन जान (और) आत्मा चेतनावत है।
59. जो नासाग्र पर अन्तर का अदेह अर्थात् आत्मा को देखते हैं, फिर (उनका) जन्मना सम्भव नहीं है, (और) (वे) माता का दूध नहीं पीते हैं।
60. अदेह (आत्मा) को ही सदेह समझ। इस शरीर को अचेतन जान। मिथ्या मोह को पूर्णतः छोड़। मुक्ति रूपी नितम्बनी को समझ।
61. आत्मा (से) आत्मा को समझने वालों के लिए कौनसा फल होता है (जो नहीं मिलता है) (वह) केवलज्ञान से ही परिणवत होता है (और) शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।
62. जो मुणि परभावों को छोड़कर, आत्मा (से) आत्मा को समझते हैं। केवलज्ञान स्वरूप को पाकर वे संसार को छोड़ते हैं।
63. जो परभावों का त्याग करते हैं, लोकालोक को प्रकाशित करने वाले स्वयं को आत्मा समझते हैं, वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।
64. गृहस्थी भी मुनि - जो कोई भी आत्मा में वास करता है वह शीघ्र सिद्धि सुख को पाता है। जिनवर ऐसा कहते हैं।
65. विरला बुद्धिमान तत्त्व को जानते हैं। विरला (श्रोता) तत्त्व को सुनते हैं। विरला जीव तत्त्व को ध्याते हैं। विरला तत्त्व को धारण करते हैं।
66. यहाँ परिजन अपने नहीं होते हैं। यहाँ सुख-दुःख से बन्धे हुए हैं। यह चिन्ता करनेवाले कैसे संसार का शीघ्र अन्त करते हैं।

67. इंद (फणिं) फणिंद णरिंदय वि जीवहं सरण न होंति ।
असरणु जाणिवि मुणि धवला अप्पा अप्पु मुणंति ॥67॥
68. एक्कुपज्जइ मरइ (ए)कु वि इहु सुहु भुंजइ एक्कु ।
नरयहं जाइ वि (इवि) इक्कु जिउ तहिं णिणवाणहं एक्कु ॥68॥
69. एक्कल्लउ जइ जाइ सिहि तो परभाव चएहिं ।
अप्पा झायहिं णाणमओ लहु सिव सुक्खु लहेहिं ॥69॥
70. जो पाउ वि सो पाउ लणि सव्वुवि कोवि मुणेइ ।
जो पुणु वि पाउ वि भणइ सो बुहु कोवि भणेइ ॥70॥
71. जह लोहम्मिय णियल बुहु तह सुणमिया जाणि ।
जे सुहु असुहु परिच्चयहिं तेवि हवंति हु णणि ॥71॥
72. जइया मणु णिग्गंथु जिया तइया तुहं णिग्गंथु ।
जइया तुहं णिग्गंथु जिया तो लव्भइ सिवपंथु ॥72॥
73. जं वड मज्झहं बीउ फुडु बीयहं वडु वि वियाणु ।
तं देहहं देउ वि मुणिहिं जो तइ लोय पहाणु ॥73॥
74. जो जिणु सो हउ सो जि हउ एहउ भावि निभंतु ।
मोक्खहं कारणि जोइया अन्नु वि तंतु न भंतु ॥74॥
75. वे ते चउ पंचवि णवहिं सत्तहं छह पंचाहं ।
चउ गुण सहियउ सो मुणाहिं एयहं लक्खइं जाहं ॥75॥
76. वे छंडिवि वे गुण सहियउ णो अप्पाणि वसेइ ।
जिणु सामिउ एमइ भणइ लहु णिणवाणु लहेइ ॥76॥
77. तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहियउ जो अप्पाणि वसेइ ।
सो सासय सुहु भायणु वि जिणवरु एउ भणेइ ॥77॥

67. इन्द्र, नागराज और चक्रवर्ती भी जीवों का शरण नहीं होते हैं। उत्तम मुनि (अपने को) अशरण जानकर आत्मा (द्वारा) आत्मा को समझते हैं।
68. जीव अकेला पैदा होता है, अकेला ही मरता है। अकेला यहाँ सुख भोगता है, अकेला ही नरक के लिए जाता है तथा अकेला निर्वाण के लिए है।
69. यदि अकेला ही उत्पत्ति चाहो तो परभाव को छोड़! ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर, शीघ्र मोक्ष-सुख को प्राप्त कर।
70. जो पाप ही है, वह पाप है, कहो! सब ही कोई (उसे) (पाप) मानते हैं। जो पुण्य को भी पाप ही कहते हैं। (जो) कोइ (ऐसा) कहते है, वह बुद्धिमान है।
71. हे बुद्धिमान! जैसे लोहनिर्मित बेड़िया है वैसे स्वर्णमयी (बेड़ियों) को जान! जो सुख-दुःख (के भावों) को छोड़ते हैं, वे ही निश्चय रूप से ज्ञानी होते हैं।
72. हे जीव! जब मन निर्ग्रन्थ है तब तू मुणि है। हे जीव! जब तू मुनि है, तो (मुनि) मोक्ष मार्ग को प्राप्त करते हैं।
73. जैसे वड़ के मध्य से बीज स्पष्टतः (प्रकट होता) है। बीज से ही बड़ (प्रकट हुआ) जान। तैसे ही देह से देव मानो जो तीन लोक का प्रधान है।
74. जो जिनेन्द्र है वह मैं हूँ। वह मैं ही हूँ। ऐसी शंकारहित भावना कर। हे योगी! मोक्ष का कारण (यही) है। अन्य (कोई) भी तंत्र-मंत्र नहीं हैं।
75. वह (आत्मा) दो, तीन, चार, पाँच, नव, सात, छह, पाँच, चार गुण सहित है, जानो। यह उसके लक्षण हैं।
76. जो दो (राग-द्वेष) को छोड़कर, दो गुण (ज्ञान-दर्शन) सहित आत्मा में निवास करता है (वह) शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है। ऐसा जिनेन्द्र स्वामी कहते हैं।
77. तीन (राग-द्वेष-मोह) से रहित, तीन गुण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) से सहित आत्मा में जो बसता है वह ही शाश्वत सुख का भाजन है। जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं।

78. चउ कसाय सण्णा रहिउ चउ गुण सहियउ वुत्तु।
सो अप्पा मुणि जीव तुहं जिमू पुरु होहि पवित्तु ॥78॥
79. वे पंचहं रहियठ मुणहिं वे पंचहं संजुत्त।
वे पंचहं वउ गुण सहियउ सो अप्पा णिरु वुत्तु ॥79॥
80. अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा पच्चक्खा णि ॥80॥
81. जो परिजाणइ अप्पु परु जो चयइ णिभंतु।
सो सण्णाणु भुणेहिं तुहं केवल णाणे वुत्तु ॥81॥
82. रयणत्रय संजुत जिउं उत्तमु तित्थ पवित्तु।
मुक्खहं कारणि जोइया अण्णु न तंतु न भंतु ॥82॥
83. दंसणु जहिं पिछियइ बुह अप्पा एहु णिभंतु।
पुण पुण अप्पा झाइयइ सो चरित्तु पउत्तु ॥83॥
84. जहिं अप्पा वहिं सयलगुण केवलि एम भणंति।
तहिं कारणिए जोइ फुडु अप्पा विमलु मुणंति ॥84॥
85. एक्कल्लउ इंदिय रहियउ मण वय काय ति सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणेहिं तुहं लहु पावि वि सिवसिद्धि ॥85॥
86. जइ वद्धउ मुचिउ मुणहिं तो वंधियहि निभंतु।
सहज सरुवे जइ रमहि तो पावहि सिव संतु ॥86॥

78. चार कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) (चार) संज्ञा (आहार-भय-मैथुन-परिग्रह) रहित, चार गुण (दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य) सहित (वस्तु को) कहा गया है (कि) वह आत्मा है। हे जीव! तू (आत्मा को) जान, जिससे (तू) परम पवित्र हो जा।
79. दो (प्रकार के) पाँचों से रहित (पाँच इन्द्रिय सुख और पाँच अव्रत) (और) दो (प्रकार के) पाँचों से संयुक्त (पाँच इन्द्रिय संयम और पाँच महाव्रत) (आत्मा का) मनन कर। दो पाँच अर्थात् दस व्रत-गुण सहित (पदार्थ के विषय में) निश्चय रूप से कहा गया है (कि) वह आत्मा है।
80. आत्मा को सम्यग्दर्शन (और) सम्यग्ज्ञान मानो। आत्मा को सम्यक्चारित्र समझो। आत्मा संयम, शील, तप है। आत्मा प्रत्याख्यान (त्याग) है।
81. जो आत्मा (और) पर को पूर्णतः जानता है, जो निर्भ्रान्त पर को त्याग देता है। वह सम्यग्ज्ञान है। तू समझ। केवलज्ञानी द्वारा कहा गया है।
82. हे योगी! रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) संयुक्त जीव उत्तम (और) पवित्र तीर्थ है। मोक्ष का कारण है। अन्य न (कोइ) तंत्र है, न मंत्र है।
83. हे पण्डित! निर्भ्रान्त यह आत्मा है। जिसके द्वारा श्रद्धान किया जाता है (वह) दर्शन है। बार-बार आत्मा का ध्यान करना वह चारित्र है। विशेष रूप से कहा गया है।
84. जहाँ आत्मा है वहाँ (उसके) सकल गुण हैं। केवली ऐसा कहते हैं। उन्हीं कारण से जोगीगण निश्चयपूर्वक शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।
85. तू अकेला (निर्ग्रन्थ) (होकर), इन्द्रिय रहित अर्थात् विरक्त (होकर) मन, वचन, काय तीनों से शुद्ध होकर आत्मा (से) आत्मा को समझ (और) शीघ्र ही मोक्ष-सिद्धि को प्राप्त कर।
86. यदि धर्मवद्ध-धर्ममुक्त को मानो तो निस्सन्देह (कर्म से) बन्धो। यदि (उसके) सहज स्वरूप में रमों तो कल्याण एवं सन्तुष्टि को प्राप्त करो।

87. समाइङ्गी जीवडहं दुगइ गमणु न होइ।
जइ जाइ वि तो दोसु णि वि पुव्वक्किउ खवणेइ॥87॥
88. अप्प सरुवहं जइ रमइ छंडिवि सवु ववहारु।
सो समाइङ्गी हवइ लहु पावइ भवपारु॥88॥
89. जो सम्मत्त पहाणु बुहु सो तइलोय पहाणु।
केवल णाणु वि लहु लहइ सासय सुक्ख णिहाणु॥89॥
90. अवरु अमरु गुणगण निलउ, जहिं अप्पा थिरु गइ।
सो कम्मेहि व परिणवइ संचिउ पुव्व विलाइ॥90॥
91. जहि सलिलेण विलिप्पयइ कमलिणि पत्त कयावि।
तहिं कम्मेण विलिप्पइ जह रइ अप्पा सहावि॥91॥
92. जो सम सुक्खुनि लीणु बुहु पुणु पुणु अप्पु मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिण्वाणु लहेइ॥92॥
93. पुरिसायारु पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु।
झाइज्जइ गुणगण निलउ णिम्मल तेय फुरंतु॥93॥
94. जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ सरीरु वि भिण्णु।
सो जाणइं सत्थइं सयल सासयसुक्खहं लीणु॥94॥
95. जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाव चएइ।
सो जाणउ सत्थइं सयला सासय सुक्खहं लीण॥95॥
96. जो णवि जाणइ अप्पु परु णवि परभाव चयइ।
सो जाणइं सत्थं सयला ण हु सिवसुक्खु लहेहिं॥96॥

87. सम्यग्दृष्टि से जीवों के लिए दुर्गति गमन नहीं होता है। यदि (दुर्गति में) जाता भी है तो दोष नहीं है। (यह) पूर्वकृत (कर्मों का) नाश करता है।
88. यदि सर्व व्यवहार को छोड़कर आत्म-स्वरूप को लिए रमन करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है (और) शीघ्र संसार-पार (मोक्ष) को प्राप्त करता है।
89. जो सम्यग्दर्शन का प्रधान है (वह) बुद्धिमान है। वह तीन लोक का मुखिया है। (वह) शाश्वत-सुख का निधान है। (वह) केवलज्ञान को शीघ्र ही प्राप्त होता है।
90. जहाँ अजर-अमर गुणसमूह का निलय आत्मा की गति स्थिर (हो जाती है) वह कर्मों से परिणत नहीं होती (वरन्) पूर्व संचित कर्मों का नाश करती है।
91. जैसे कमलनी का पत्ता कभी भी पानी से लिप्त नहीं होता है तैसे ही जहाँ (जीव) आत्म स्वभाव में रत होता है, कर्मों से लिप्त नहीं होता है।
92. जो पण्डित समतासुख में लीन (होकर) बार-बार आत्मा को मानता है वह ही स्पष्टतः कर्मों का नाश करके शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।
93. हे जीव! (जीव के द्वारा) इस पुरुषाकार प्रमाण पवित्र, गुणसमूह निलय, निर्मल प्रकाशमान आत्मा का ध्यान किया जाता है।
94. जो अपवित्र शरीर को भी भिन्न (तथा) शाश्वत सुख (प्राप्ति) के लिए लीन, आत्मा को ही शुद्ध मानता है, वह सकल शास्त्रों को जानता है।
95. जो आत्मा को (व) पर को नहीं जानता है। परभाव को नहीं छोड़ता है। वह सर्व शास्त्रों का ज्ञाता है और शाश्वत सुख की (प्राप्ति में) लीन रहता है।
96. जो आत्मा को (तथा) पर को नहीं समझता है (और) परभाव को नहीं छोड़ता है, वह सकल शास्त्रों को जानता है (तो भी) कल्याण सुख को निश्चय ही नहीं प्राप्त करता है।

97. वज्जिय सयल वियप्पयहं परम समाहि लहंति ।
जं विदहि साणंदु कुवि सो सिव सुक्खु भणंति ॥97॥
98. जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रुवत्थु वि जिण उत्तु ।
रुवातीतु मुणेवि लहु जिम परु होहि पवित्तु ॥98॥
99. सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एग भणेइ ॥99॥
100. रायरोस वे परिहरिवि जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइ णि फुडु केवलि एम भणेइ ॥100॥
101. हिंसादि खु परिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ ।
सो वीयउ चारितु गुणि जो पंचम गइ लेइ ॥101॥
102. मित्थादि खु जो परिहरइ सम्मदंसण सुद्धि ।
सो परिहारवि सुद्धिमुणि लहु पावहि सिवसिद्धि ॥102॥
103. सुहुमहं लोहहं जो विलउ जो सुहुमु वि परिणामु ।
सो सुहुमु वि चारित्तु मुणि सो सासय सुह धामु ॥103॥
104. अरहंतु वि सो सिद्धु फुडु सो आयरिउ वियाणि ।
सो उज्जायइं सो जि गुणि णिच्छइ अप्पा जाणि ॥104॥
105. सो सिव संकरु विण्हुसो, सो रुहु वि सो बुद्ध ।
सो जिणु ईसरु बंधु सो सो अणंतु सो सिद्धि ॥105॥
106. एयहिं लक्खणि लक्खियउ जो परु णिक्कलु देउ ।
देहहं मच्छिहिं जो वसइ तासु ण किज्जइ भेउ ॥106॥

97. सकल विकल्पों का त्याग (के बाद) परम समाधि को पाते हैं। जब कुछ आनन्द सहित अनुभव करते हैं वह कल्याण सुख है। (ऐसा जिनवर) कहते हैं।
98. हे पण्डित! जिनवर द्वारा कहे गये जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत को समझ जिससे शीघ्र परम पवित्र होता है।
99. सब जीव ज्ञानमय हैं जो समभाव को समझते हैं वह स्पष्टतः सामायिक है। (उसको) जान! केवली ऐसा कहते हैं।
100. जो राग-द्वेष दोनों को छोड़कर (और) जो समभाव को समझता है, वह स्पष्टतः सामायिक है। (उसको) जान। केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं।
101. हिंसा आदि को निश्चय रूप से त्यागकर, जो आत्मा को निश्चय रूप से स्थिर करते हैं, वह दूसरा चारित्र है जो पंचम गति को प्राप्त करता है। (ऐसा तू) समझ!
102. जो मिथ्यादि (तत्त्वों) को निश्चय रूप से छोड़ते है, सम्यग्दर्शन-शुद्धि (प्राप्त करते हैं)। वह परिहार विशुद्धि (संयम) जानो (तथा) शीघ्र शिवसिद्धि को प्राप्त करो।
103. सूक्ष्म लोभ का जो विनाश है जो सूक्ष्म का ही परिणाम है। वह सूक्ष्म ही चारित्र है, वह शाश्वत सुख को धाम है। (ऐसा) जानों।
104. (आत्मा) अरहंत भी है, वह स्पष्टतः सिद्ध है, वह आचार्य है। (उसको) समझो! वह उपाध्याय हैं, वह मुनि भी है। आत्मा को जानकर (उसको) निश्चित करता है।
105. वह शिव है, शंकर है। वह विष्णु है, वह रुद्र भी है। वह बुद्ध है। वह जिण है, ईश्वर है। वह ब्रह्मा है। वह अनन्त है, वह सिद्धि है।
106. इन्हीं लक्षणों में जो देखा गया है (वह) पवित्र निष्फल देव है (तथा) देह के मध्य में जो बसता है उसका भेद नहीं किया जाता है।

107. जै सिद्ध जि सिज्झिसहिं जे सिज्झहिं जिण उत्त।
अप्पा दंसणि भेवि फुड एहउ जाणि निभंतु ॥107॥
108. संसारुहं भयभीतेन जोगचंद मुणिण।
अप्पा संवोहण कथवि दोहा कव्व मिसेण ॥108॥
-

107. जिण (द्वारा) कहा गया है (कि) इसको निर्भ्रान्त समझ। जो सिद्ध है, जो सिद्ध होंगे, जो सिद्ध हो रहे हैं। आत्म-दर्शन में तीनों ही स्पष्ट है।
108. संसार के भय से भयभीत (लोगों के लिए) जोगचन्द मुणि द्वारा, दोहा-काव्य के बहाने 'आत्मा-सम्बोधन' कहने के लिए (यह रचना की गई है)।
